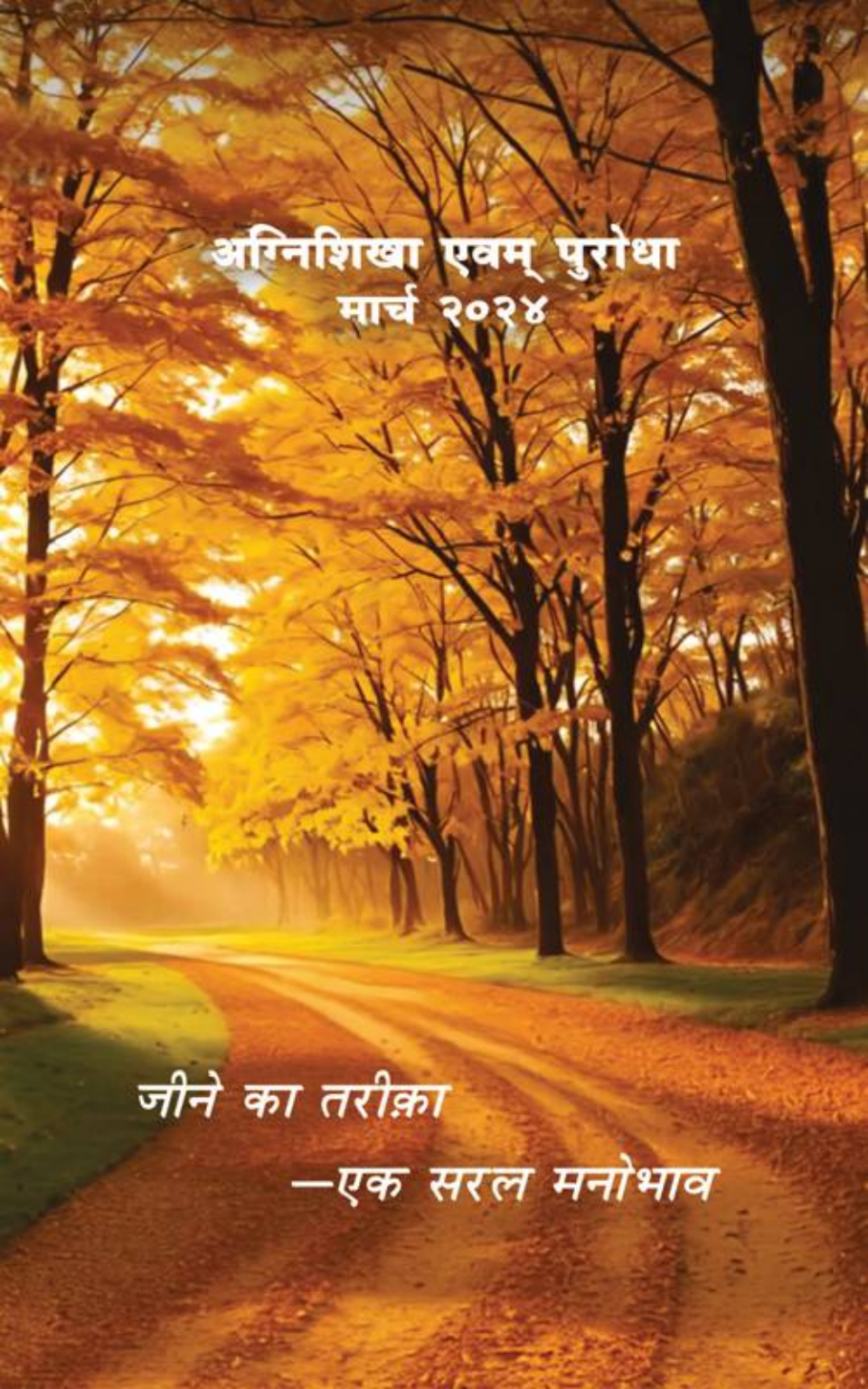
अग्निशिखा एवम् पुरोधा
मार्च २०२४
जीने का तरीक़ा
—एक सरल मनोभाव

विषय-सूची

जीने का तरीक़ा—एक सरल मनोभाव
(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश	३
सरल रहो	५
प्रसन्न रहो	११
शान्त रहो	१८
अपना कार्य भरसक अच्छी तरह करो	२४
हमेशा अपने-आपको मेरे प्रति खुला रखो	२९

पुरोधा

दैनन्दिनी		३७
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन': ज्योतिष के बारे में	नवजातजी	३९
शाश्वत ज्योति (३)	चित्रा सेन (अनु. वीणा)	४१
एक का दुःख सबका दुःख...	वन्दना	४४
फ़ॉर्म ४		४९

साधना का उद्देश्य चेतना को भगवान् के प्रति खोलना और प्रकृति का परिवर्तन करना है—श्रीअरविन्द

पाठकों को हम यह याद दिला दें कि वैसे पुराने कलेवर की 'अग्निशिखा' का यह हमारा ५४वाँ वर्ष चल रहा है।

सन्देश

पहली शर्त है कि अपने निजी हितों को लक्ष्य न बनाओ।

पहले गुण जिनकी ज़रूरत है वे हैं : बहादुरी, साहस और अध्यवसाय।

और फिर इस बारे में सचेतन होना कि व्यक्ति को जो जानना चाहिये उसकी तुलना में वह कुछ भी नहीं जानता, उसे जो करना चाहिये उसकी तुलना में वह कुछ भी नहीं कर सकता, उसे जो होना चाहिये उसकी तुलना में वह कुछ भी नहीं है।

उसकी प्रकृति में जिस चीज़ की कमी है उसे प्राप्त करने के लिए, जो अभी तक वह नहीं जानता उसे जानने के लिए, जो अभी तक वह नहीं कर सकता उसे करने के लिए एक अपरिवर्तनशील संकल्प होना चाहिये।

निजी कामनाओं के अभाव से आने वाली ज्योति और शान्ति में व्यक्ति को सदा प्रगति करते रहना चाहिये।

व्यक्ति अपना कार्यक्रम बना सकता है :

"हमेशा अधिक अच्छा और आगे!"

और केवल एक ही लक्ष्य हो : भगवान् को जानना, ताकि उन्हें अभिव्यक्त कर सको।

दृढ़ बनी रहो और तुम आज जो नहीं कर सकतीं उसे कल कर पाओगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४८१-८२

सर्वांगीण सरलता : सरलता जो पूर्ण सच्चाई का परिणाम है।

*

सरलता में महान् सौन्दर्य है। श्रीमाँ

प्र. मधुर माँ, मैं लौ पर बहुत एकाग्रचित्त हुआ, लेकिन दुःख की बात है—उसे प्रज्वलित करने के लिए मेरी अभीप्सा पर्याप्त बलशाली न थी।

अग्नि को जलाना तुम्हारा काम नहीं।
जैसा कि मैंने तुमसे कहा, मैं उसे हमेशा
प्रज्वलित कर रही हूँ—तुम्हें
उसे पाने के लिए बस अपने-आपको खोलना और
अपनी सद्भावना के साथ उसकी रक्षा करनी है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. २०९

सरल रहो

सरलता—पूर्ण निष्कपटता का परिणाम

जैसे ही किसी अभिव्यक्ति से समस्त प्रयास लुप्त हो जाता है, सारी चीज़ बहुत सरल हो जाती है, खिलते हुए फूल की तरह सरल जो बिना शोर मचाये, बिना प्रचण्ड इंगितों के अपनी सुन्दरता को प्रकट करता और सुगन्ध को फैलाता है। और इस सरलता में बड़ी-से-बड़ी शक्ति होती है, ऐसी शक्ति जो कम-से-कम मिश्रित होती है और कम-से-कम हानिकर प्रतिक्रियाओं को जगाती है। प्राण की शक्ति पर अविश्वास करना चाहिये, यह कार्य-पथ पर प्रलोभन देने वाली होती है और इसमें हमेशा इसके जाल में जा फँसने का भय होता है, क्योंकि इससे तुम्हें तुरन्त मिलने वाले फल का चस्का लग जाता है और काम अच्छी तरह करने की अपनी पहली आतुरता में हम अपने-आपको इस शक्ति का उपयोग करने के लिए बह जाने देते हैं। परन्तु शीघ्र ही वह हमारे समस्त कर्म को उचित मार्ग से भटका देती और हम जो कुछ करते हैं उसमें भ्रम, भ्रान्ति और मृत्यु का बीज बो देती है।

सरलता, सरलता! 'तेरी उपस्थिति' की शुद्धि कितनी मधुर है!...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. १७

मधुर माँ,

ऐसे काल होते हैं जब मेरी इच्छा होती है कि अपने सभी क्रिया-कलाप —प्लेग्राउण्ड, बैंड, अध्ययन इत्यादि—छोड़ दूँ और अपना सारा समय काम में लगाऊँ। लेकिन मेरा तर्क इसे स्वीकार नहीं करता। तो यह विचार कहाँ से और क्यों आता है?

इस मामले में तुम्हारा तर्क ठीक है। बाहरी प्रकृति की प्रायः यह तामसिक प्रवृत्ति होती है कि जीवन की परिस्थितियों को सरल बना ले ताकि अधिक पेचीदा स्थितियों को व्यवस्थित करने के प्रयास से बचा जा सके। लेकिन जब तुम सत्ता की समग्रता में प्रगति करना चाहो तो यह सरलीकरण उचित नहीं होता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ३४१

सहजता, सरलता तथा सच्चाई

सहज-स्वाभाविक होने का अर्थ है—सोचने-विचारने, संगठित करने, निर्णय करने तथा व्यक्तिगत इच्छा-शक्ति के द्वारा उपलब्ध करने का कोई प्रयास करने की इच्छा न करना।

मैं तुम्हें यह समझाने के लिए कि सच्ची-सहज स्वाभाविकता क्या चीज़ है, दो उदाहरण देने जा रही हूँ। पहला—तुम सब निस्सन्देह रूप से इसे जानते हो—उस समय से आरम्भ होता है जब श्रीअरविन्द ने सन् १९१४ में 'आर्य'[१] लिखना आरम्भ किया था। वह न तो कोई मानसिक ज्ञान था और न कोई मानसिक सृष्टि ही, जिसे उन्होंने शब्दों में उतारा: उन्होंने अपना मन नीरव बना लिया और टाइपराइटर के सामने बैठ गये, और जो कुछ लिखा जाना था वह सब, ऊपर से, उच्चतर लोकों से, नीचे उतरा, बिलकुल तैयार, और उन्हें केवल टाइपराइटर के ऊपर अपनी अंगुलियाँ चलानी होती थीं और वह लिखा जाता था। बस, मानसिक निश्चल-नीरवता की इसी स्थिति में, जो ऊपर से ज्ञान को—और अभिव्यञ्जना को भी—प्रवाहित होने देती है, उन्होंने पूरा 'आर्य' लिखा जिसमें हर महीने छपे हुए चौंसठ पृष्ठ होते थे। यही कारण था कि वे इसे लिख सके, क्योंकि, यदि यह मानसिक रचना का कोई कार्य होता तो ऐसा करना बिलकुल असम्भव होता। यह है सच्ची मानसिक सहज स्वाभाविकता।

और यदि कोई इस बात को थोड़ा और आगे बढ़ाये तो उसे पहले से कभी यह सोचना और निश्चित नहीं करना चाहिये कि मुझे क्या कहना या लिखना है। बस, उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिये कि वह अपने मन को निश्चल-नीरव बना दे, उसे एक पात्र की तरह उच्चतर 'चैतन्य' की ओर घुमा दे और जो कुछ ऊपर से आये उसे मानसिक नीरवता के अन्दर अभिव्यक्त करता रहे। बस, यही होगी यथार्थ सहज स्वाभाविकता।

स्वाभाविक है कि यह बहुत आसान नहीं है, इसके लिए तैयारी चाहिये।

[१] 'आर्य' पत्रिका में छह वर्षों (१९१४–१९२०) में, श्रीअरविन्द ने अपने लगभग सभी प्रमुख ग्रन्थों को संग-संग प्रकाशित किया: 'दिव्य जीवन', 'योग-समन्वय', 'मानव-चक्र', 'मानव एकता का आदर्श', 'गीता-प्रबन्ध', 'वेद-रहस्य', 'भावी-काव्य', 'भारतीय संस्कृति के आधार' आदि। (पत्रिका में धारावाहिक रूप से अन्य शीर्षकों के अन्तर्गत।)

और यदि कोई कर्म के क्षेत्र में उतरता है तो यह और भी अधिक कठिन होता है; कारण, सामान्यतया, यदि कोई तर्कसम्मत ढंग से कार्य करना चाहता है तो आमतौर पर उसे पहले से यह सोच-विचार लेना होता है कि वह क्या करना चाहता है और उसे करने से पहले उसकी योजना बना लेनी होती है, नहीं तो वह सभी प्रकार की कामनाओं और आवेगों द्वारा इधर-उधर उछाला जा सकता है और यह बात उस अन्तःप्रेरणा से बहुत दूर होगी जिसकी चर्चा 'वू वी' में की गयी है; ये सब बस निम्नतर प्रकृति की गतियाँ होंगी जो तुम्हें कार्य में प्रवृत्त करती हैं। इसलिए, जब तक मनुष्य चीनी महात्मा द्वारा कथित ज्ञान तथा अनासक्ति की स्थिति को नहीं प्राप्त कर लेता, जिसका वर्णन इस कहानी में है, यह कहीं अधिक अच्छा है कि वह अपने दैनिक कर्मों में आत्म-स्फूर्त न हो, क्योंकि तब वह सब प्रकार के अत्यन्त अव्यवस्थित आवेगों तथा प्रभावों का खिलौना बनने का ख़तरा उठायेगा।

परन्तु एक बार जब मनुष्य योग में प्रवेश करता है और योग करना चाहता है तब यह बहुत ज़रूरी होता है कि वह अपनी निजी मानसिक रचनाओं का खिलौना न बने। यदि मनुष्य अपनी अनुभूतियों पर विश्वास करना चाहे तो उसे इस बात की बहुत अधिक सावधानी बरतनी चाहिये कि वह जो अनुभूतियाँ पाना चाहता है, उनके जिस रूप की वह अपेक्षा करता है या देखने की आशा करता है उन सबकी धारणा अपने अन्दर न बनाये। क्योंकि, मानसिक रचना, जैसा कि मैंने बहुत बार कहा है, एक सच्ची रचना, एक सच्ची सृष्टि होती है, और तुम अपनी भावना के द्वारा ऐसे रूपों का सृजन करते हो जो कुछ-कुछ तुमसे स्वतन्त्र होते हैं और तुम्हारे पास इस प्रकार वापस आते हैं मानों बाहर से आये हों और तुम्हें अनुभूतियाँ होने का एहसास कराते हैं। परन्तु ये अनुभूतियाँ, जो या तो इच्छित या अन्वेषित या प्रत्याशित होती हैं, स्वतःस्फूर्त अनुभूतियाँ नहीं होतीं और भ्रम-भ्रान्तियाँ होने के—कभी-कभी तो विपत्तिजनक भ्रान्तियाँ होने के—ख़तरे में डाल देती हैं।

इसलिए, जब कोई किसी मानसिक साधना का अनुसरण करता हो तो उसे इस बात में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये कि पहले से किन्हीं अनुभूतियों की कल्पना या उन्हें पाने की इच्छा न करे, क्योंकि इस तरह

वह अपने लिए इन अनुभूतियों का भ्रम पैदा कर सकता है। योग के क्षेत्र में, एकदम अटल और कठोर सहज स्वाभाविकता **पूर्णतः** अपरिहार्य है।

उसके लिए स्वभावतः, मनुष्य में कोई महत्त्वाकांक्षा या कामना नहीं होनी चाहिये, और न अत्यधिक कल्पना-शक्ति, और न ही वह चीज़ जिसे मैं "आध्यात्मिक रूमानियत" कहती हूँ अर्थात्, चमत्कारपूर्ण वस्तुओं के लिए शौक—मनुष्य यदि निर्भय होकर पथ पर अग्रसर होने के विषय में निस्सन्दिग्ध होना चाहे तो उसे बड़ी सावधानी के साथ इन सब चीज़ों को निर्मूल कर देना चाहिये।

अब, इस प्रारम्भिक स्पष्टीकरण के बाद, जो कुछ मैंने लिखा है और जिसकी व्याख्या करने के लिए मुझसे कहा गया है उसे मैं तुम्हारे सामने पढ़ने जा रही हूँ। इन सूत्रों की सम्भवतः व्याख्या की जानी चाहिये। अभी जिन बातों की मैं तुम्हारे सामने चर्चा कर रही थी शायद उन्हीं को पढ़ने के कारण अन्तःप्रेरित होकर मैंने इन्हें लिखा था। परन्तु यह सबसे बढ़ कर एक व्यक्तिगत अनुभव की अभिव्यञ्जना थी :

"दिव्य होने के लिए मनुष्य को सहज-स्वाभाविक होना चाहिये।"

इसी बात को अभी-अभी मैंने तुम्हें समझाया है। तब प्रश्न उठता है : सहज-स्वाभाविक कैसे हुआ जाये?

"सहज-स्वाभाविक होने के लिए मनुष्य को पूर्णतः सरल होना चाहिये।"

और पूर्णतः सरल कैसे हुआ जाये?

"पूर्णतः सरल होने के लिए मनुष्य को सम्पूर्ण रूप में सच्चा होना चाहिये।"

और अब, सम्पूर्ण रूप से सच्चा होने का तात्पर्य क्या है?

"सम्पूर्ण रूप में सच्चा होने का तात्पर्य है, हमारी सत्ता में कोई विभाजन, कोई विरोध न हो।"

यदि तुम ऐसे टुकड़ों से बने हो जो केवल एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, बल्कि बहुधा एक-दूसरे के विरोधी हैं, तो ये टुकड़े तुम्हारी सत्ता में अनिवार्य रूप से एक विभाजन उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरणार्थ, तुम्हारे अन्दर एक भाग ऐसा है जो दिव्य जीवन के लिए, भगवान् को जानने, उनके साथ युक्त होने, पूर्णतः उन्हें जीवन में उतारने के लिए अभीप्सा करता है, और फिर तुम्हारा एक दूसरा भाग है जिसमें आसक्तियाँ, कामनाएँ—जिन्हें वह "आवश्यकताएँ" कहता है—हैं और जो न केवल इन चीज़ों को पाने की चेष्टा करता है बल्कि जब ये चीज़ें उसे नहीं मिलतीं तो एकदम विक्षुब्ध हो उठता है। दूसरे प्रकार के विरोध भी हैं, पर यह विरोध सबसे अधिक स्पष्ट है। दूसरे हैं, जैसे, मनुष्य भगवान् के प्रति पूरी तरह समर्पण करना, उनकी इच्छा और उनके पथ-प्रदर्शन के प्रति पूर्ण रूप में अपने को उत्सर्ग कर देना चाहता है, और उसके साथ-ही-साथ, जब अनुभव आते हैं—यह इस पथ पर होने वाला एक आम अनुभव है, जब मनुष्य सच्चे रूप से अपने-आपको भगवान् के प्रति अर्पित करने का प्रयत्न करता है—ऐसा लगता है कि हम कुछ नहीं हैं, हम कुछ नहीं कर सकते, यहाँ तक कि भगवान् के बाहर हमारा कोई अस्तित्व नहीं है; अर्थात्, यदि वे न होते तो हमारा अस्तित्व ही न होता और हम कुछ न कर पाते, हम बिलकुल कुछ न हो पाते...। यह अनुभव स्वाभाविक ढंग से पूर्ण आत्मदान के पथ पर एक सहायक के रूप में आता है, परन्तु हमारी सत्ता का एक भाग ऐसा है जो, जब यह अनुभव आता है, तो भयानक रूप से विद्रोह कर बैठता है और कहता है: "परन्तु क्षमा कीजिये! मैं बने रहने का आग्रह करता हूँ, मैं कुछ होने का आग्रह करता हूँ, मैं काम स्वयं करना चाहता हूँ, मैं एक व्यक्तित्व बनाये रखना चाहता हूँ।" स्वाभाविक है कि जो कुछ पहले ने किया था उस सबको दूसरा नष्ट कर देता है।

ये सब असाधारण बातें नहीं हैं, ऐसा बहुत बार होता है। सत्ता में ऐसे विरोधों के अनगिनत उदाहरण मैं तुम्हें दे सकती हूँ: जब एक भाग एक पग आगे बढ़ाने की कोशिश करता है तो दूसरा आता है और सब कुछ तहस-नहस कर डालता है। अतः मनुष्य को सारे समय फिर से आरम्भ करना पड़ता है, और प्रत्येक बार सब कुछ तहस-नहस हो जाता है। यही कारण है कि मनुष्य को सच्चाई के इस कार्य को अवश्य करना चाहिये

और जब मनुष्य अपनी सत्ता में किसी ऐसे भाग को देखता है जो उसे दूसरी ओर खींचता है तो यह सावधानी के साथ उस भाग को पकड़ लेता है, उसे उसी तरह शिक्षा देता है जैसे किसी बच्चे को सिखाया जाता है और उसे केन्द्रीय भाग के साथ सामञ्जस्यमय बनाना है। यही है सच्चाई का कार्य और यह अपरिहार्य है।

और स्वाभाविक है कि जब सत्ता की सभी इच्छाओं के बीच एकता, मेल-मिलाप, सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है तो तुम्हारी सत्ता सरल, स्पष्ट और अपनी क्रिया और प्रवृत्तियों में एक जैसी बन सकती है। जब सारी सत्ता केवल एक ही केन्द्रीय भाव के इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाती है केवल तभी मनुष्य सहज-स्वाभाविक हो सकता है। कारण, यदि तुम्हारे अन्दर कोई ऐसी चीज़ है जो भगवान् की ओर मुड़ी हुई है और अन्तःप्रेरणा और सहज आवेग की प्रतीक्षा करती है, और उसके साथ-ही-साथ सत्ता का एक दूसरा भाग है जो अपने निजी प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है तथा अपनी निजी कामनाओं को संसिद्ध करने के लिए कार्य करता है, तब मनुष्य यह नहीं जानता कि वह कहाँ खड़ा है, और वह इस विषय में निस्सन्दिग्ध नहीं हो सकता कि अब क्या होने वाला है, क्योंकि, एक भाग, दूसरा जो करना चाहता है उसे न केवल बिगाड़ सकता है बल्कि पूरी तरह खण्डित भी कर सकता है। और, निश्चय ही, 'वू वी' में जो कुछ कहा गया है उसके साथ सामञ्जस्य बनाये रखने के लिए, क्या आवश्यक है और क्या किया जाना चाहिये यह सब बहुत साफ़ तौर पर देख लेने के बाद, यह सुझाव दिया गया है कि इस कार्यक्रम को संसिद्ध करने के लिए न तो उग्रता का प्रयोग करना चाहिये और न अत्यधिक उत्साह का, क्योंकि उत्साह की अधिकता उस शान्ति और समता और स्थिरता के लिए बाधक है जो व्यक्ति के द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त करने में दिव्य चैतन्य के लिए आवश्यक है। और इस सबका निष्कर्ष यह है :

सन्तुलन अनिवार्य है, जो पथ सावधानतापूर्वक विपरीत चरमावस्थाओं से बचता है वह अनिवार्य है, अत्यधिक जल्दबाज़ी ख़तरनाक है, अधैर्य आगे बढ़ने से तुम्हें रोकता है; और साथ-ही-साथ, तामसिकता तुम्हारे पैरों में बेड़ियाँ डाल देती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३३८-४३

प्रसन्न रहो

प्रसन्नता की आन्तरिक अवस्था

हास्यम् है *सुखम्* का सक्रिय पक्ष; इसमें प्रसन्नता और उल्लास की एक सक्रिय आन्तरिक स्थिति होती है जिसे कोई भी विरोधी मानसिक या भौतिक अनुभव क्षुब्ध नहीं कर सकता। उसका मुकुट, उसकी पूर्णता होती है—समता की सिद्धि पर भगवान् की मोहर और छाप का लग जाना। हमारी आन्तरिक सत्ता में, बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण की बालवत् मुस्कुराती हुई छवि कौंध जाती है, वे ही हैं जगत् के उद्यान में शाश्वत बालक तथा कुमार।
CWSA खण्ड १०, पृ. ५-६

विनोद-वृत्ति? यह तो जीवन का नमक है। इसके बिना जगत् पूरी तरह से असन्तुलित हो जाता—पहले से ही यह काफ़ी असन्तुलित है—और बहुत पहले से ही गया-बीता है!

योग करते समय हमेशा लटका हुआ चेहरा रखना या एकदम चुप्पा रहना कोई ज़रूरी नहीं है, लेकिन यह ज़रूरी है कि योग को गम्भीरता से लिया जाये और इसमें नीरवता तथा आन्तरिक एकाग्रता का बहुत बड़ा स्थान है। अगर व्यक्ति का लक्ष्य अपने अन्दर जाकर 'प्रभु' का साक्षात्कार करना है तो वह सारे समय अपने-आपको बाहर नहीं फेंकता रह सकता। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि उसे हर समय या अधिकतर गम्भीर या उदासी से भरी निराशा से ही घिरा रहना चाहिये।
CWSA खण्ड ३१, पृ. १७४, १७५

मधुरता और सुखी भावना को अपने अन्दर बढ़ने दो, क्योंकि ये अन्तरात्मा के प्रबलतम लक्षण हैं, इसका प्रतीक हैं कि चैत्य सत्ता जाग्रत् और हमारे सम्पर्क में है। विचार या वाचा या क्रिया की भूलों से स्वयं को विक्षुब्ध न होने दो—उन्हें ऐसी छिछली वस्तु मान कर अपने-आपसे परे धकेल दो जिससे 'शक्ति' तथा 'प्रकाश' निपट लेंगे और उन्हें दूर कर देंगे। एक ही केन्द्रीय वस्तु से लगे रहो—वह है तुम्हारी अन्तरात्मा और वे उच्चतर वास्तविकताएँ जिन्हें वह अपने साथ लिये रहती है।
CWSA खण्ड ३०, पृ. ३४४ **श्रीअरविन्द**

ख़ुश रहने की कोशिश करो

सबसे बढ़ कर आवश्यक गुण है लगन, सहिष्णुता, और... उसे क्या नाम दें?—एक प्रकार का आन्तरिक प्रसन्न-भाव जो निरुत्साहित न होने में, उदास न होने में और मुस्कुराहट के साथ सभी कठिनाइयों का सामना करने में तुम्हारा सहायक होता है। अंग्रेज़ी में एक शब्द है जो इस भाव को अच्छी तरह व्यक्त करता है और वह है 'चियरफ़ुलनेस' (Cheerfulness) —प्रसन्नचित्तता। यदि तुम इसे अपने अन्दर बनाये रखो तो तुम उन सब बुरे प्रभावों के साथ, जो तुम्हें प्रगति करने से रोकने का प्रयास करते हैं, प्रकाश के अन्दर, बहुत अच्छे तरीक़े से लड़ सकते हो, उनका अधिक अच्छी तरह से विरोध कर सकते हो। *'श्रीमातृवाणी',* खण्ड ८, पृ. २८

कभी मत बुड़बुड़ाओ। जब तुम बुड़बुड़ाते हो तो तुम्हारे अन्दर सब तरह की शक्तियाँ घुस जाती हैं और तुम्हें नीचे खींच लेती हैं। मुस्कुराते रहो। मैं हमेशा मज़ाक करती हुई दीखती हूँ पर यह केवल मज़ाक नहीं है। यह चैत्य से उत्पन्न विश्वास है। मुस्कान इस श्रद्धा को प्रकट करती है कि कोई भी चीज़ भगवान् के विरुद्ध खड़ी नहीं रह सकती और अन्त में हर चीज़ ठीक निकलेगी। *'श्रीमातृवाणी',* खण्ड १४, पृ. २४५

अन्तरात्मा का अपना निजी स्वभाव ही है स्थिर, अपरिवर्तनशील, निरपेक्ष और परमाह्लादकारी दिव्य आनन्द...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४६

अपने-आपको उस नये 'प्रकाश' के प्रति खोलो जो धरती पर उदित हुआ है और तुम्हारे सामने एक ज्योतिर्मय पथ प्रशस्त हो जायेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १०६

ख़ुश रहने की कोशिश करो–तुम दिव्य प्रकाश के निकट होओगे।

ऐसा कोई हर्ष नहीं जिसकी तुलना अपने हृदय में शाश्वत 'उपस्थिति' की अनुभूति से की जा सकती हो। श्रीमाँ

ख़ुश कैसे रहा जाये

'स्थायी' और 'सच्चा' सुख पाने का एकमात्र उपाय है, 'भागवत कृपा' पर पूर्ण और ऐकान्तिक निर्भरता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १९९

सुखी और शान्त होने का सबसे अच्छा उपाय है भगवान् के प्रति गहराई में, तीव्रता के साथ सतत कृतज्ञता का अनुभव करना।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ३५५

जहाँ तक बन पड़े, अपने विचारों में निराशा को रोको और स्वेच्छापूर्वक आशावादी बनो। *'श्रीमातृवाणी'*, खण्ड १२, पृ. १५४

हम हमेशा उचित वस्तु करें तो हमेशा शान्त और सुखी रहेंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २००

वस्तुतः, शुद्ध और अनासक्त प्रेम की तरह और कोई चीज़ इतना अधिक सुख नहीं लाती। *'श्रीमातृवाणी'*, खण्ड १६, पृ. १९९

सच्चा सुख भागवत स्रोत से आता है, वह शुद्ध, **बिना शर्त** होता है। साधारण सुख का मूल प्राण है, वह अशुद्ध होता है और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। *'श्रीमातृवाणी'*, खण्ड १७, पृ. ६८

सरल होना, सरल रूप में सद्भावनापूर्ण होना, अपनी तरफ़ से भरसक अच्छा, और जहाँ तक हो सके श्रेष्ठ रूप से करना कितना अच्छा है; बहुत बड़े महल न बनाना, बल्कि केवल प्रगति, प्रकाश, सद्भावनापूर्ण शान्ति के लिए अभीप्सा करना और भगवान् को, जो जगत् में सब कुछ जानते हैं, उन्हें अपने लिए इस बात का निश्चय करने देना कि तुम क्या बनो और तुम्हें क्या करना होगा। तब तुम्हें कोई चिन्ता नहीं रहती और तुम **पूर्ण रूप से सुखी** होते हो! *'श्रीमातृवाणी'*, खण्ड ६, पृ. २८३

शुद्ध आनन्द को जानना

"मनुष्य और भगवान् के मिलन का हमेशा यह अर्थ होना चाहिये कि भगवान् मानव सत्ता को भेद कर उसमें समाविष्ट हो जायें और मनुष्य स्वयं को भगवान् के अन्दर निमग्न कर दे।

"किन्तु यह निमज्जन आत्म-विलय जैसी कोई चीज़ नहीं है। इस सब खोज और आवेग की, कष्ट और हर्षोन्माद की परिणति निर्वाण नहीं है। यदि इसका अन्त यही होता, तो यह लीला कभी शुरू ही न हुई होती।

"दिव्य आनन्द ही रहस्य है। विशुद्ध आनन्द को जान लो और तुम भगवान् को जान जाओगे।...

(श्रीअरविन्द, 'विचार और झाँकियाँ' पुस्तक से)

माँ, मनुष्य "विशुद्ध आनन्द को कैसे जान" सकता है?

सबसे पहले, शुरू करने के लिए व्यक्ति को ध्यानपूर्वक निरीक्षण द्वारा यह जान लेना होगा कि कामनाएँ एवं कामनाओं की तृप्ति एक ऐसा हलका और अनिश्चित सुख प्रदान करती हैं जो मिश्रित, क्षणजीवी और एकदम असन्तोषदायी होता है। सामान्यतया यही पहला क़दम होता है।

उसके बाद, यदि व्यक्ति समझदार हो तो उसे कामना को पहचानना सीखना होगा और ऐसे किसी भी काम से बचना होगा जो उसकी कामनाओं को सन्तुष्ट करे। मनुष्य को उन्हें सन्तुष्ट करने का यत्न किये बग़ैर दूर धकेल देना चाहिये। और फिर इसका पहला नतीजा, ठीक उन्हीं प्रारम्भिक परिणामों में से एक होगा जिसे बुद्ध ने अपने उपदेशों में यों स्पष्ट किया है : कामना को तृप्त करने की अपेक्षा उसे जीतने और उसका परित्याग करने में अनन्तगुना अधिक महान् आनन्द है। प्रत्येक सत्यनिष्ठ और दृढ़-निश्चयी साधक को कुछ समय बाद, देर या सवेर, कभी-कभी बहुत ही जल्दी, यह अनुभव होगा कि यह एक परम सत्य है, और कामना पर विजय प्राप्त करने से अनुभव होने वाला आनन्द कामना की तृप्ति से प्राप्त हो सकने वाले क्षणजीवी और मिश्रित सुख से इतना अधिक ऊँचा होता है कि उससे इसकी तुलना नहीं हो सकती।

यह हुआ दूसरा क़दम।

साधना को निरन्तर जारी रखने से, स्वाभाविक रूप से, बहुत थोड़े समय में कामनाएँ बहुत पीछे रह जायेंगी और फिर वे तुम्हें तंग नहीं करेंगी। इस प्रकार तुम अपनी सत्ता के अन्दर थोड़ी अधिक गहराई में प्रवेश करने के लिए स्वतन्त्र हो जाओगे और स्वयं को... 'आनन्ददाता' के, 'दिव्यतत्त्व' के, भागवत 'कृपा' के प्रति अभीप्सा करते हुए उद्घाटित कर लोगे। और यदि ऐसा सच्चे आत्म-समर्पण के साथ किया जाये—ऐसे भाव के साथ जो स्वयं को अर्पित करता है, प्रदान करता है और अपने उत्सर्ग के प्रतिदान के रूप में किसी भी चीज़ की आशा नहीं करता—तो व्यक्ति एक ऐसी मधुर, सुखद, अन्तरंग, ज्वलन्त, स्नेहभरी ऊष्मा का अनुभव करेगा जो हृदय को परिपूर्ण कर देती है और दिव्य 'आनन्द' की अग्रदूत होती है।

इसके बाद, मार्ग सरल होता जाता है।...

एक ऐसा भी समय आता है जब व्यक्ति प्रायः तैयार होने लगता है, जब प्रत्येक चीज़ में, हर एक पदार्थ में, एक-एक क्रिया में, एक-एक स्पन्दन में, अपने चारों ओर की सभी चीज़ों में—केवल लोगों और सचेतन सत्ताओं में ही नहीं बल्कि वस्तुओं एवं पदार्थों में; केवल पेड़-पौधों एवं जीवित वस्तुओं में ही नहीं बल्कि उपयोग में आने वाली किसी भी चीज़ में, अपने चारों ओर घिरी वस्तुओं में—इस आनन्द को, सत्ता के इस आनन्द को, केवल वही होने के आनन्द को जो व्यक्ति है, केवल होने के आनन्द को अनुभव करता है। और वह देखता है कि सब कुछ उसी रूप में स्पन्दित हो रहा है। किसी वस्तु को स्पर्श करते ही वह उस आनन्द का अनुभव करता है। पर मैं कहती हूँ कि स्वभावतः ही, मनुष्य को पहले उस साधना का अभ्यास कर लेना चाहिये जिसके सम्बन्ध में मैंने प्रारम्भ में कहा है; अन्यथा, जब तक व्यक्ति में कामना, पसन्दगी, आसक्ति या अनुरक्ति एवं विरक्ति और यह सब होता है तब तक वह आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता—बिलकुल नहीं कर सकता।

और जब तक मनुष्य को किसी चीज़ में सुख—सुख, हाँ, किसी चीज़ में प्राणिक और भौतिक सुख—मिलता है, तो वह इस आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि यह आनन्द सर्वत्र विद्यमान है। यह आनन्द एक बहुत सूक्ष्म वस्तु है। वस्तुओं में विचरण करते समय तुम्हें ऐसा लगता है

मानों वे अपने आनन्द को तुम्हारे सामने गाकर व्यक्त कर रही हों। ऐसा भी समय आता है जब तुम अपने चारों ओर के जीवन में इसके बहुत अभ्यस्त हो जाते हो। निस्सन्देह, मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि इस आनन्द को मनुष्यों में अनुभव करना थोड़ा अधिक कठिन है, क्योंकि उनमें ऐसी बहुत-सी मानसिक और प्राणिक रचनाएँ होती हैं जो प्रत्यक्ष दर्शन के क्षेत्र में आती हैं और आनन्द को अस्त-व्यस्त कर देती हैं। उसमें इस तरह की अहंकारपूर्ण कठोरता अधिक मात्रा में होती है जो अन्य वस्तुओं के साथ मिश्रित हो जाती है, इसलिए वहाँ 'आनन्द' का स्पर्श पाना अधिक मुश्किल होता है। पर व्यक्ति पशुओं में भी इस आनन्द का अनुभव कर सकता है; अभी तक यह अनुभव पौधों की अपेक्षा उनमें ज़रा अधिक कठिनाई से आता है। किन्तु पौधों में, फूलों में यह अनुभव बहुत अद्‌भुत होता है! वे अपने सारे आनन्द को मानों वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं, बाह्य रूप में प्रकट करते हैं। और जैसा कि मैंने कहा, चेतना की एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें सभी परिचित पदार्थ, व्यक्ति के चारों ओर की चीज़ें, उसके द्वारा प्रयुक्त चीज़ें, प्रत्येक अपने यथास्थित रूप में सुखी होती है। तो व्यक्ति इस प्रकार उस क्षण जान जाता है कि उसने सच्चे दिव्य 'आनन्द' का स्पर्श पा लिया है। और यह स्थिति किसी शर्त से बँधी नहीं होती। मेरा आशय है कि यह आश्रित नहीं होती... यह किसी भी वस्तु पर आश्रित नहीं होती। यह बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करती, यह कम या अधिक अनुकूल परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करती, और किसी भी वस्तु पर निर्भर नहीं करती: वह विश्व के मूलतत्त्व के साथ मिलन की स्थिति है।

और जब यह अवस्था आती है तो शरीर के सभी कोषाणुओं में व्याप्त हो जाती है। यह कोई सोची हुई चीज़ भी नहीं होती—मनुष्य उस अवस्था में तर्क नहीं करता, विश्लेषण नहीं करता, ऐसा कुछ भी नहीं होता: यह ऐसी *स्थिति* है जिसमें मनुष्य केवल निवास करता है। और जब शरीर इसमें हिस्सा लेता है तो यह इतना ताज़ा—इतना ताज़ा, इतना सहज, इतना... कि उसके बाद मनुष्य अपनी ओर नहीं लौटता, उसमें आत्म-निरीक्षण का, आत्म-विश्लेषण का या वस्तुओं के विश्लेषण का कोई भाव नहीं रहता। यह सब मानों उल्लास-भरे स्पन्दनों का एक गीत बन जाता है, परन्तु बहुत, बहुत ही शान्त, उग्रता से रहित, आवेग से रहित होता है,

उसमें यह सब कुछ नहीं होता। यह बड़ा सूक्ष्म और साथ ही बहुत सघन होता है, और उसके आने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सारा विश्व ही एक अद्‌भुत स्वरसंगति है। वह वस्तु भी जो सामान्य मानव चेतना को भद्दी और अप्रीतिकर लगती है अब अद्‌भुत प्रतीत होती है।

दुर्भाग्यवश, जैसा कि मैंने कहा, लोग, परिस्थितियाँ, ये सब उन मानसिक एवं प्राणिक रचनाओं के साथ सारे समय परेशान करते रहते हैं। और तब मनुष्य वस्तुओं के इस अज्ञान और अन्धकारपूर्ण बोध की ओर लौटने के लिए बाध्य हो जाता है। अन्यथा, ज्यों ही वह सब समाप्त हो जाता है और व्यक्ति उसमें से बाहर निकलने में समर्थ हो जाता है... तो सब कुछ बदल जाता है। जैसे कि वे वहाँ अपने कथन के अन्त में कहते हैं: सब कुछ बदल जाता है। अद्‌भुत सामञ्जस्य होता है! सब कुछ दिव्य 'आनन्द', सच्चा 'आनन्द', विशुद्ध 'आनन्द' बन जाता है।

इसके लिए चाहिये, अपने ऊपर थोड़ा-सा काम करना।

और इस साधना का, जिसके सम्बन्ध में मैंने कहा था और जो हमें करनी है, यदि 'आनन्द'-प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर इसका अभ्यास किया जाये तो फल देर से प्राप्त होता है, क्योंकि बीच में एक अहंतापूर्ण तत्त्व घुस आता है, वह एक उद्देश्य को लेकर किया जाता है और समर्पण नहीं रह जाता, यह एक माँग बन जाता है और उसके बाद...। इसका फल मिलता है और मिलेगा ही, चाहे इसमें अधिक देर क्यों न लगे—व्यक्ति जब किसी चीज़ की माँग नहीं करता, किसी चीज़ की अपेक्षा नहीं करता, आशा नहीं करता और जब उसके साथ एक हो जाता है तो यह आत्म-समर्पण का, अभीप्सा का भाव होता है और किसी विनिमय की भावना के बिना केवल सहज आवश्यकता—दिव्य बनने की आवश्यकता होती है, बस।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २३-२७

कर्म योग का हिस्सा है और प्राण तथा उसकी गतिविधियों में 'उपस्थिति', 'प्रकाश' तथा 'शक्ति' का आह्वान करने के लिए यह उत्तम अवसर प्रदान करता है; यह समर्पण के क्षेत्र और अवसर को भी बढ़ा देता है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. २४७ — *श्रीअरविन्द*

शान्त रहो

अचञ्चलता

अचञ्चलता, अचञ्चलता, स्थिर और एकाग्र बल, इतना अचञ्चल कि कोई चीज़ उसे हिला न सके—यह पूर्ण सिद्धि के लिए अनिवार्य आधार है।

*

निश्चय ही, अचञ्चलता तमस् नहीं है। वस्तुतः उचित वस्तु अचञ्चलता में ही की जा सकती है।

मैं जिसे अचञ्चलता कहती हूँ वह है, किसी भी चीज़ से क्षुब्ध हुए बिना काम करना और किसी भी चीज़ से क्षुब्ध हुए बिना हर चीज़ का अवलोकन करना।

*

अचञ्चलता में तुम अनुभव करोगे कि भागवत शक्ति, सहायता और संरक्षण हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

*

तुम्हें जो एकमात्र चीज़ करनी है वह है अचञ्चल रहना, विक्षुब्ध न होना, केवल भगवान् की ओर मुड़े रहना। बाक़ी सब 'उनके' हाथों में है।

*

आध्यात्मिक शक्तियाँ अचञ्चलता, शान्ति और नीरवता में काम करती हैं। सारी उद्विग्नता और उत्तेजना विरोधी प्रभाव से आती हैं।

*

तुम्हें बाहरी परिस्थितियों में अचञ्चलता की खोज नहीं करनी चाहिये, वह तुम्हारे अन्दर है।

सत्ता की गहराइयों के अन्दर एक ऐसी शान्ति है जो समस्त सत्ता में, शरीर तक में अचञ्चलता लाती है—अगर तुम उसे लाने दो।

तुम्हें उस शान्ति की खोज करनी चाहिये और तब तुम्हें वह अचञ्चलता मिल जायेगी जिसकी तुम्हें चाह है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १४८-५१

तुम जो कुछ करो, हमेशा भगवान् को याद करो। श्रीमाँ

दबाव निरन्तर मौजूद है। मुझे अचञ्चलता प्रदान करो, मेरी मधुर माँ।

मैं तुम पर शान्ति, अचञ्चलता, स्थिरता उँडेलना कभी बन्द नहीं करती— तुम उन्हें स्वीकारते क्यों नहीं?

शान्ति, अचञ्चलता और स्थिरता को स्वीकारने के लिए मुझे क्या करना चाहिये?

उन्हें निष्कपट रूप से और अपनी सत्ता के किसी एक भाग से नहीं बल्कि पूर्ण रूप से चाहना।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. १३२-३३

तुम मुझसे उतनी दूर नहीं हो जितना तुम सोचते हो। तुम्हें ज़रूरत है केवल अपने मन और प्राण की अस्थिरता को कुछ शान्त करने की, थोड़ा-सा स्थिर और एकाग्रचित्त रहो, तब तुम तुरन्त मेरी उपस्थिति को अपने अन्दर और अपने चारों तरफ़ पाओगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. १४५

अगर वह अपने मन को स्थिर और हृदय को शान्त रख सके तो वह स्थिति का सामना कर सकेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ५१८

बलवान् सत्ता हमेशा स्थिर होती है। दुर्बलता ही अचञ्चलता का कारण होती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १४३

सभी में भगवान् के परम चिन्तन से आने वाली अपरिवर्तनशील शान्ति और भगवान् की अटल अनन्तता की शान्त अन्तर्दृष्टि की कमी है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १३

"शान्त-स्थिर" होने का अर्थ

किसी व्यक्ति ने मुझसे पूछा है कि इन शब्दों से मेरा क्या अभिप्राय है:

"हमें शान्त-स्थिर होना चाहिये।"

यह स्पष्ट है कि जब मैं किसी से कहती हूँ: "शान्त-स्थिर रहो", मेरा अभिप्राय व्यक्ति-व्यक्ति के अनुसार बहुत-सी अलग-अलग बातों से होता है। परन्तु सबसे पहली प्रशान्तता है मन की अचञ्चलता, क्योंकि सामान्यतया यही वह चीज़ है जिसका अत्यन्त अभाव होता है। जब मैं किसी से कहती हूँ कि "शान्त-स्थिर रहो" तो मेरा अभिप्राय होता है: विक्षुब्ध, उत्तेजित, अशान्त विचारों को प्रश्रय देने की कोशिश मत करो; अपने मन को निश्चल बनाये रखने का प्रयास करो तथा अपनी समस्त कल्पनाओं, अवलोकनों और मानसिक रचनाओं के चारों ओर गोल-गोल चक्कर काटने से बचो।

यहाँ बिलकुल न्यायतः एक प्रश्न जोड़ा जा सकता है: आप हमसे कहती हैं: "शान्त-स्थिर रहो", पर शान्त-स्थिर रहने के लिए हमें क्या करना चाहिये?... उत्तर हमेशा लगभग वही होता है: हमें सबसे पहले इसकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये, और इसकी इच्छा करनी चाहिये, और फिर अभीप्सा करनी चाहिये और फिर कोशिश करनी चाहिये! कोशिश करने के लिए अनगिनत उपाय हैं जिन्हें बहुत से लोगों ने निर्धारित किया तथा आज़माया है। ये उपाय आमतौर पर दीर्घ, श्रमसाध्य और कठिन होते हैं; और बहुतेरे लोग अन्त तक पहुँचने से पहले निरुत्साहित हो जाते हैं, कारण, जितना ही अधिक वे प्रयास करते हैं उतना ही अधिक उनके विचार उनके मस्तक में चक्कर काटना तथा विक्षुब्ध होना प्रारम्भ कर देते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपाय अलग-अलग है, पर *पहले* मनुष्य को उसकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये, क्योंकि कारण चाहे जो भी हो —चाहे इस कारण कि मनुष्य थक गया हो अथवा इस कारण कि वह अति क्लान्त हो, अथवा इस कारण कि वह जिस स्थिति में रहता है उससे वास्तव में ऊपर उठना चाहता है—मनुष्य को सर्वप्रथम इस निश्चलता की, मन की इस शान्ति की आवश्यकता को समझना और महसूस करना होगा। और फिर उसके बाद, वह क्रमशः सभी प्रकार के उपायों से, पूर्वविदित

और नवीन उपायों से, परिणाम की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर सकता है।

अब हम तुरन्त देखते हैं कि एक दूसरी अचञ्चलता भी है जो आवश्यक है, यहाँ तक कि अत्यन्त आवश्यक है, वह है प्राणिक स्थिरता, अर्थात्, कामनाओं का अभाव। केवल प्राण जब पर्याप्त रूप में विकसित नहीं होता, तो जैसे ही उससे शान्त-स्थिर बने रहने के लिए कहा जाता है, वह या तो सो जाता है या हड़ताल कर बैठता है; वह कहता है : "आह! नहीं, मैं अब काम नहीं कर सकता! मुझे जिस पोषण की ज़रूरत है, उत्तेजना, उत्साह, कामना, यहाँ तक कि आवेग आदि, यदि तुम उसे नहीं देते तो मैं हिलना-डुलना भी पसन्द नहीं करता और अब मैं कुछ भी नहीं करूँगा।" अतः, यहाँ पर समस्या ज़रा ज़्यादा नाज़ुक बन जाती है और सम्भवतः और अधिक कठिन भी; क्योंकि निस्सन्देह, उत्तेजना से तमस् में गिर पड़ना किसी प्रकार की प्रगति करने से बहुत दूर है! मनुष्य को तमस् या निद्राजन्य निष्क्रियता को कभी स्थिरता समझने की भूल नहीं करनी चाहिये।

स्थिरता एक बहुत सकारात्मक स्थिति है; एक सकारात्मक शान्ति होती है जो संघर्ष का विपरीत तत्त्व नहीं है—वह एक सक्रिय, संक्रामक, बलशाली शान्ति है जो वश में करती और शान्त बनाती है, जो प्रत्येक वस्तु को यथाक्रम रखती है, सुव्यवस्थित करती है। मैं इसी की चर्चा कर रही हूँ; जब मैं किसी से कहती हूँ कि "शान्त-स्थिर बनो", मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं होता कि "जाओ और सो जाओ, जड़ और निष्क्रिय बन जाओ, और कोई कार्य मत करो," बिलकुल नहीं!... सच्ची स्थिरता एक बहुत बड़ी शक्ति है, एक बहुत बड़ा बल है। वास्तव में, दूसरी ओर से इस समस्या को देखते हुए, हम कह सकते हैं कि जो लोग सचमुच सशक्त, बलशाली होते हैं वे सर्वदा ही बहुत शान्त-स्थिर रहते हैं। केवल दुर्बल ही उत्तेजित रहते हैं; जैसे ही कोई सचमुच सशक्त बन जाता है वह शान्त, स्थिर, अचञ्चल बन जाता है, और उसमें प्रतिकूल लहरों का, जो उसे विक्षुब्ध करने की आशा से बाहर से टूट पड़ती हैं, सामना करने की सहनशक्ति होती है। यह सच्ची निश्चलता हमेशा ही शक्ति का चिह्न होती है। स्थिरता शक्तिसम्पन्न लोगों का गुण होती है।

और यह बात भौतिक क्षेत्र के लिए भी सच है। मैं नहीं जानती कि तुम लोगों ने शेरों, बाघों, हाथियों जैसे जानवरों को ध्यानपूर्वक देखा है या नहीं,

पर यह एक सत्य है कि जब वे सक्रिय नहीं होते तो वे सदा बड़े आराम से निश्चल होते हैं। चुपचाप बैठा हुआ और तुम्हारी ओर ताकता हुआ एक सिंह तुमसे हमेशा यह कहता हुआ प्रतीत होता है : "ओह ! तुम कितने चञ्चल हो !" वह समझदारी की एक शान्तिपूर्ण मुद्रा के साथ तुम्हारी ओर ताकता है ! और उसका समस्त बल, शक्ति, भौतिक सामर्थ्य वहाँ संग्रहित, एकत्रित, केन्द्रीभूत रहते हैं—किसी हलचल की छाया के बिना—और जब हुक्म दिया जाये तब कर्म करने के लिए तैयार रहता है।

मैंने ऐसे लोगों को, बहुत सारे लोगों को देखा है जो अशान्त हुए बिना आधा घण्टा भी चुप नहीं बैठ सकते थे। उन्हें या तो अपनी टाँग या पैर अथवा हाथ या अपना सिर हिलाना पड़ता था; उन्हें सारे समय अशान्ति के साथ हिलना-डुलना पड़ता था, क्योंकि उनमें शान्त-स्थिर बने रहने की सामर्थ्य या शक्ति नहीं थी।

जब कोई चाहे तब निश्चल बने रहने की यह क्षमता, अपनी समस्त शक्तियों को एकत्र करना तथा उन्हें, जब इच्छा हो तब ख़र्च करना, यदि कोई चाहे तो पूर्ण रूप में, अथवा अपनी इच्छा के अनुसार, कर्मरत रहते हुए भी पूर्ण शान्तिपूर्वक, उन्हें कर्म में जैसा वह चाहे विभाजित कर देना —यह सर्वदा शक्ति-सामर्थ्य का लक्षण है। यह भौतिक शक्ति या प्राणिक शक्ति या मानसिक शक्ति हो सकती है। लेकिन अगर तुम ज़रा भी उत्तेजित होओ तो पक्का जानो कि कहीं पर कोई दुर्बलता है; और अगर तुम्हारी अशान्ति व्यापक है तो वह एक व्यापक दुर्बलता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३९३-९६

मन की अचञ्चलता

अपनी आत्मा में *धीर, स्थिर* रहना, मन की इस अचञ्चलता को बनाये रखना, आन्तरिक पुरुष को इस **बाह्य प्रकृति से पृथक् रखना** बहुत सहायक, प्रायः अनिवार्य होता है। जब तक सत्ता विचारों के भँवर में या प्राणिक गतियों के तूफ़ान से घिरी रहती है, व्यक्ति शान्त-अचञ्चल और अपनी आत्मा में स्थिर नहीं रह सकता। अपने-आपको उनसे अलग कर लेना, उनसे पीछे हट कर खड़े रहना, उन्हें स्वयं से पृथक् अनुभव करना अनिवार्य होता है।...

निश्चल-नीरवता हमेशा अच्छी होती है; लेकिन मन की अचञ्चलता से मेरा मतलब पूर्ण नीरवता से नहीं है। मेरा मतलब ऐसे मन से है जो झंझटों और विक्षोभों से मुक्त हो, जो स्थिर, सरल और हर्षपूर्ण हो ताकि उस 'शक्ति' के प्रति खुला रहे जो उसके स्वभाव में परिवर्तन ले आयेगी। महत्त्वपूर्ण बात है कि तंग करने वाली धारणाओं, ग़लत भावनाओं, अस्त-व्यस्त विचारों और दुःखपूर्ण गतियों की बाढ़ में डूब जाने की अपनी आदत से पिण्ड छुड़ा लिया जाये। ये चीज़ें स्वभाव को अशान्त कर देतीं, धुँधला बना देतीं और 'शक्ति' को कार्य करने देने के लिए अधिक कठिनाई खड़ी कर देती हैं; जब मन अचञ्चल और शान्त रहता है, 'शक्ति' अधिक आसानी से क्रिया कर सकती है। परेशान या उदास हुए बिना अपने अन्दर उन चीज़ों को देखना सम्भव होना चाहिये जिन्हें बदलना है; तब परिवर्तन अधिक आसानी से हो जाता है। CWSA खण्ड २९, पृ. १६०-६१

अगर व्यक्ति अपने-आपको 'भागवत शक्ति' को समर्पित न कर सके और उनकी कार्य-प्रणाली पर भरोसा न रखे तो इस योग को करने की कोई सम्भावना नहीं है। अगर व्यक्ति केवल मन में रहे, उसी के सन्देहों और विचारों में बसे, तो योग करना सम्भव नहीं है। उसके सामर्थ्य की परीक्षा तब होती है जब वह मन को शान्त रख सके, यह अनुभव करे कि उसके अन्दर एक महानतर 'भागवत शक्ति'—माँ की शक्ति—कार्य कर रही है, उस पर श्रद्धा-विश्वास रख सके तथा उसके स्वभाव में जो कुछ उसका खण्डन करता हो उस सबको अस्वीकार करके, उसकी क्रिया में सहायक हो सके।

*

मन को शान्त करने का अर्थ है, उन चीज़ों के बारे में सोचना बन्द कर देना जो तुम्हें परेशान करती हैं और शान्ति तथा शक्ति को अपने अन्दर उतरने और कार्य करने देना। तब "अन्दर जीना" स्वयं ही बाहर प्रकट हो जायेगा—यानी, तुम अनुभव करोगे कि उसके साथ जो अधिकाधिक आन्तरिक शान्ति तथा चेतना आ रही हैं वही सचमुच **तुम** हो और बाक़ी सब कुछ कोई बाहरी तथा सतही चीज़ है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. २७-२८ **श्रीअरविन्द**

अपना कार्य भरसक अच्छी तरह करो

समस्त कार्य अनुभव का विद्यालय है *(श्रीअरविन्द)*

अगर तुम कुछ न करो तो तुम्हें कोई भी अनुभव नहीं हो सकता। सारा जीवन अनुभव का क्षेत्र है। तुम्हारी हर एक गति, तुम्हारा हर एक विचार, तुम्हारा हर कार्य एक अनुभूति हो सकता है, और उसे *अनुभूति होना ही चाहिये;* और स्वाभाविक है कि विशेष रूप से कार्य अनुभव का क्षेत्र है जहाँ तुम आन्तरिक प्रयास से की गयी सारी प्रगति को प्रयोग में ला सकते हो।

अगर तुम काम किये बिना ध्यान और निदिध्यासन में लगे रहो, तो तुम यह नहीं जान पाते कि तुमने प्रगति की है या नहीं। तुम एक भ्रम में, अपनी प्रगति के भ्रम में रह सकते हो; जब कि अगर तुम अपने-आपको काम में लगाओ, तो तुम्हारे काम की सभी परिस्थितियाँ, औरों के साथ सम्पर्क, भौतिक व्यस्तता, यह सारा अनुभव का क्षेत्र है ताकि तुम्हें केवल अपनी प्रगति का ही भान न हो बल्कि तुम्हें यह भी मालूम हो कि अभी कितनी सारी प्रगति करनी बाक़ी है। अगर तुम अपने-आपमें ही बन्द रहो, कोई काम न करो, तो तुम पूरी तरह आत्मनिष्ठ भ्रान्ति में रह सकते हो; जिस क्षण तुम अपने कार्य को बहिर्मुख करते और दूसरों के साथ, परिस्थितियों और जीवन की चीज़ों के सम्पर्क में आते हो, तो बिलकुल तटस्थ भाव से तुम्हें पता लगता है कि तुमने प्रगति की है या नहीं, क्या तुम अधिक शान्त, अधिक सचेतन, अधिक सशक्त, अधिक निस्स्वार्थ हो या नहीं, क्या तुम्हारे अन्दर अब कोई कामना, कोई पसन्द, कोई कमज़ोरी, कोई बेईमानी है या नहीं—तुम काम करके इन सबसे अवगत हो सकते हो। लेकिन अगर तुम ध्यान में ही बन्द रहो, जो बिलकुल व्यक्तिगत चीज़ है तो तुम पूर्ण भ्रान्ति में प्रवेश कर सकते हो और हो सकता है कि उसमें से कभी बाहर ही न निकलो और यह मान लो कि तुमने असाधारण चीज़ें प्राप्त कर ली हैं, जब कि वास्तव में तुम्हें बस, यह लगता ही है, यह भ्रान्ति ही है कि तुमने यह पा लिया।

श्रीअरविन्द का यही मतलब है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३१९-२०

क्या बाहरी जीवन, प्रतिदिन और प्रतिक्षण की क्रियाशीलता हमारे ध्यान और निदिध्यासन के घण्टों का अनिवार्य पूरक नहीं है? और क्या हर एक को दिये गये समय का अनुपात उस अनुपात का ठीक चित्र नहीं है जो तैयारी के लिए किये गये प्रयास और उपलब्धि के बीच है? क्योंकि ध्यान, निदिध्यासन और 'ऐक्य' उपलब्ध परिणाम हैं—वह पुष्प है जो खिलता है और दैनिक क्रिया-कलाप वह निहाई है जिस पर सभी तत्त्वों को शुद्ध और परिष्कृत होने के लिए बार-बार गुज़रना होता है, निदिध्यासन से मिलने वाले आलोक के लिए उन्हें नमनीय और परिपक्व बनाना होता है। इससे पहले कि बाह्य क्रिया-कलाप पूर्ण विकास के लिए अनावश्यक बने, इन सब तत्त्वों को एक के बाद एक करके कुठाली में से गुज़रना होगा। तब यह क्रियाशीलता तुझे अभिव्यक्त करने के साधन में बदल जायेगी ताकि चेतना के अन्य केन्द्रों को भट्टी और प्रदीप्ति के समान दोहरे कार्य के लिए जगाया जा सके। इसीलिए घमण्ड और आत्मसन्तोष सबसे बुरी बाधाएँ हैं। हमें बड़े विनीत भाव से अगणित तत्त्वों में से कुछ को गूँधने और शुद्ध बनाने के छोटे-से-छोटे अवसर का लाभ उठाना चाहिये ताकि उनमें से कुछ को हम सुनम्य और निर्वैयक्तिक बना सकें, उन्हें अपने-आपको भूलना, आत्म-त्याग, भक्ति, कोमलता और सौम्यता सिखा सकें। और जब सत्ता के ये सब तरीक़े अभ्यासगत हो जाएँ तो मनन-चिन्तन में भाग लेने के लिए और तेरे साथ परम 'एकाग्रता' में एक होने के लिए वे तैयार होते हैं। इसलिए मुझे लगता है कि सबसे अच्छों के लिए भी काम लम्बा और धीमा होगा और असाधारण परिवर्तन सर्वांगीण नहीं हो सकते। वे सत्ता के दिग्विन्यास को बदल देते हैं, वे उसे निश्चित रूप से सीधे रास्ते पर ले आते हैं; परन्तु सचमुच लक्ष्य को पाने के लिए कोई भी व्यक्ति हर क्षण, हर तरह की अनगिनत अनुभूतियों से नहीं बच सकता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ११-१२

प्रगतिशील पूर्णता

और बस यहीं हमें समस्या का समाधान मिलता है। तुम प्रत्येक मुहूर्त अपने संकल्प को एक अभीप्सा के रूप में अर्पित कर सकते हो जो बहुत सरल ढंग से, ठीक यह नहीं कि "हे प्रभु! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो," बल्कि

यह रूप लेती है कि "ऐसी कृपा कर कि मैं यथासम्भव अच्छे-से-अच्छे रूप में उस चीज़ को सम्पन्न करूँ जो सर्वोत्तम हो।"

हो सकता है कि तुम्हें प्रत्येक क्षण यह मालूम न हो कि सर्वोत्तम वस्तु क्या है और उसे कैसे करना चाहिये, पर तुम अपनी इच्छा को भगवान् के हाथों में सौंप सकते हो जिससे कि सर्वोत्तम करणीय, सर्वोत्तम सम्भाव्य वस्तु सम्पन्न हो सके। तुम देखोगे कि इसके अद्‌भुत परिणाम होंगे। सचेतनता, सच्चाई और लगन के साथ इसे करो, और तुम अपने को विराट् पगों से आगे बढ़ते हुए पाओगे। यह ऐसी ही बात है, है न? मनुष्य को अपनी आत्मा के उत्कट उत्साह के साथ, अपने संकल्प के पूरे बल-सामर्थ्य के साथ कार्य करना चाहिये; प्रत्येक मुहूर्त वह सर्वोत्तम करणीय करे, यथासम्भव सर्वोत्तम वस्तु करे। दूसरे लोग जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं—यह ऐसी चीज है जिसे मैं चाहे जितनी बार दोहराऊँ कम ही रहेगी।

कभी मत कहो कि "फ़लाँ आदमी यह नहीं करता," "फ़लाँ आदमी तो कुछ और ही चीज़ करता है," "लोग तो वही करते हैं जो उन्हें नहीं करना चाहिये"—**इन सब बातों से तुम्हारा कोई मतलब नहीं।** तुम इस पृथ्वी पर, एक भौतिक शरीर में, एक सुनिश्चित उद्देश्य से लाये गये हो और वह उद्देश्य है, इस शरीर को जितना सम्भव हो उतना सचेतन बनाना, इसे भगवान् का सर्वाधिक पूर्ण और सर्वाधिक सचेतन यन्त्र बनाना। भगवान् ने तुम्हें चेतना के सभी क्षेत्रों में—मानसिक, प्राणिक और भौतिक क्षेत्र में—वे तुमसे जो कुछ आशा करते हैं उसके अनुपात में योग्यता और साधन की एक विशेष मात्रा प्रदान की है, और 'वे' जो कुछ तुमसे आशा रखते हैं उसी के अनुपात में तुम्हारे चारों ओर की सारी परिस्थितियाँ भी व्यवस्थित हैं, और जो लोग तुमसे यह कहते हैं, "मेरा जीवन भयावह है, मैं संसार में सर्वाधिक दयनीय जीवन यापन करता हूँ," वे गधे हैं! **प्रत्येक व्यक्ति का जीवन ऐसा है जो उसके सर्वांगपूर्ण विकास के उपयुक्त है, प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अनुभव प्राप्त होते हैं जो उसे उसके सर्वांगपूर्ण विकास में सहायता देते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख जो कठिनाइयाँ आती हैं वे भी ऐसी हैं जो उसे उसकी पूर्ण उपलब्धि में सहायता देती हैं।**

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १३८-३९

क्या तुम जानते हो?

हमारे कर्मों के स्वामी और प्रेरक हैं वे 'एकमेव' जो विराट् एवं परम हैं तथा सनातन एवं अनन्त हैं। वे परात्पर, अविज्ञात या अज्ञेय परब्रह्म हैं, वे ऊर्ध्वस्थित, अप्रकट एवं अव्यक्त, अनिर्वचनीय देव हैं, साथ ही वे सर्वभूत की आत्मा, सभी लोकों के स्वामी, सभी लोकों से अतीत, प्रकाशस्वरूप तथा पथप्रदर्शक, सर्वसुन्दर एवं आनन्दघन, प्रेमी और प्रेमभाजन भी हैं। वे विश्वात्मा हैं तथा हमारे चारों ओर की यह सब स्रष्ट्री शक्ति भी हैं; वे हमारे अन्दर अन्तर्यामी देव हैं। जो कुछ भी है वह सब वही हैं, और जो कुछ है उस सबसे भी वह 'अधिक' हैं। हम स्वयं, भले हम इसे जानते नहीं, उन्हीं की सत्ता की सत्ता एवं उनकी शक्ति की शक्ति हैं और उनकी चेतना से निर्गत चेतना के द्वारा ही सचेतन हैं। हमारी मर्त्य सत्ता भी उनके तत्त्व में से बनी है और हमारे अन्दर एक अमर सत्ता भी है जो सनातन 'प्रकाश' और 'आनन्द' का स्फुलिंग है। अपनी सत्ता के इस सत्य को —चाहे ज्ञान, कर्म एवं भक्ति से या अन्य किसी भी साधन से जानना तथा उपलब्ध करना और यहाँ या और कहीं इसे कार्यक्षम बनाना ही समस्त योग का लक्ष्य है।...

कर्म के स्वामी अपने-आपको जिज्ञासु के समक्ष तुरन्त ही प्रकाशित नहीं कर देते, हमेशा उन्हीं की शक्ति परदे के पीछे से कार्य कर रही होती है, किन्तु वह प्रकट तभी होती है जब हम कर्ता का अहंकार त्याग देते हैं, और जितना ही यह त्याग अधिकाधिक मूर्त होता जाता है उस शक्ति की प्रत्यक्ष क्रिया उतनी ही बढ़ती चली जाती है। किन्तु उनकी पूर्ण उपस्थिति में निवास करने का अधिकार हमें तभी प्राप्त होगा जब उनकी दिव्य शक्ति के प्रति हमारा समर्पण पूर्ण हो जायेगा।...

इस दीर्घ पथ का प्रथम सोपान यह है कि हम अपने सभी कर्म अपने अन्दर तथा जगत् में विद्यमान भगवान् को यज्ञ-रूप में अर्पित कर दें;... द्वितीय सोपान है, अपने कर्मों के फल में आसक्ति का परित्याग;... तृतीय सोपान है, केन्द्रीय अहंभाव तथा कर्तृत्व के अहंकार से भी छुटकारा प्राप्त कर लेना।

CWSA खण्ड २३, पृ. २४३, २४९ **श्रीअरविन्द**

एक सर्वज्ञानी प्रज्ञा है जो इस रहस्यमय जगत् की पथदर्शिका है;
एक ऋतदृष्टि है जो अपनी सत्ताओं और घटनाओं का रूपायण करती है।
'सावित्री', पृ. २७१ ***श्रीअरविन्द***

हमेशा अपने-आपको मेरे प्रति खुला रखो

भगवान् हमारे अन्दर साधना करते हैं

जगत् में जो कुछ होता है उस सबमें, सब कार्यों के पीछे भगवान् अपनी शक्ति के द्वारा रहते हैं, किन्तु वे अपनी योगमाया से ढके रहते हैं और इस अपरा प्रकृति में जीव के अहंकार के द्वारा कार्य करते हैं।

योग में भी भगवान् ही साधक हैं और साधना भी; यह उन्हीं की शक्ति है जो अपने प्रकाश, बल, ज्ञान, चेतना और आनन्द से आधार पर क्रिया करती है और जब आधार इस शक्ति की ओर खुल जाता है तो उसमें अपनी इन दिव्य शक्तियों को भरती है, जिनसे साधना सम्भव होती है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. ६

भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम है आत्मदान—माँग से मुक्त, नमन और समर्पण से पूर्णतः युक्त, वह प्रेम कोई दावा नहीं करता, कोई शर्त नहीं लादता, कोई मोल-तोल नहीं करता, ईर्ष्या या अभिमान या क्रोध की ज़बरदस्तियों में रत नहीं होता—क्योंकि ये चीज़ें उसकी बनावट में ही नहीं हैं।

उसके बदले में भगवती माता भी अपने-आपको दे देती हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से—और वह चीज़ आन्तरिक दान के रूप में अपने-आपको प्रकट करती है—तुम्हारे मन, तुम्हारे प्राण, तुम्हारी भौतिक चेतना में उनकी उपस्थिति होती है, उनकी शक्ति तुम्हें दिव्य प्रकृति में नवजन्म देती, तुम्हारी सत्ता की सभी गतियों को ऊपर उठाती और उन्हें पूर्णता एवं उपलब्धि की ओर ले जाती है, उनका प्रेम तुम्हें परिव्याप्त कर लेता और तुम्हें अपनी गोद में लेकर भगवान् की ओर ले जाता है।

यही वह प्रेम है जिसे अपने सब भागों में, एकदम भौतिक भाग तक में, अनुभव करने और प्राप्त करने की अभीप्सा तुम्हें अवश्य करनी चाहिये, और इस प्रेम की कुछ भी सीमा नहीं है, न समय में और न परिपूर्णता में।
CWSA खण्ड २९, पृ. ३३८ **श्रीअरविन्द**

अपना हृदय खोलो तो प्रकाश उसमें प्रवेश करेगा
और उसमें निवास करेगा। श्रीमाँ

भगवान् साधना कैसे हैं?

क्योंकि मनुष्य में भगवान् ही साधना करते हैं। भगवान् के बिना साधना नहीं होती। केवल, तुम उस बारे में कुछ जानते नहीं... तुम सोचते हो—तुम इस भ्रम में रहते हो—कि तुम ही कर रहे हो। और यथार्थतः, जब तक तुम इस भ्रम में हो, तब तक प्रयास करना ज़रूरी है; लेकिन सच्ची बात तो यह है कि भगवान् ही तुम्हारे अन्दर साधना कर रहे हैं, और बिना भगवान् के कोई साधना न होगी।

यहाँ वे लिखते हैं: "... भगवान्... साधक और साधना हैं।" (दूसरा बच्चा) तब फिर, माँ, व्यक्तिगत प्रयास किसलिए? अगर भगवान् ही साधना कर रहे हैं, तो उन्हें ही करने दी जाये; व्यक्तिगत प्रयास कहाँ आता है?

हाँ, आलस्य में लोग ठीक यही कहते हैं! लेकिन अगर तुम आलसी न होते, तो यह न कहते! *(हँसी)*

व्यक्तिगत प्रयास का क्या मतलब है?

वह प्रयास जो समझता है कि वह व्यक्तिगत है। तुम्हें अपने अलग व्यक्तित्व होने का भान रहता है। क्या तुम्हें यह अनुभव होता है कि तुम भगवान् हो, केवल भगवान्? नहीं! *(हँसी)* हाँ, तो भगवान् यह हैं... ठीक जब तक तुम्हें यह अहसास रहे कि तुम मनोज हो, हाँ तो, मनोज को प्रयास करना पड़ेगा। अगर तुम मनोज होने के बोध को पूरी तरह मिटा सको, तो भगवान्-ही-भगवान् हैं, और स्वाभाविक है कि तब भगवान् ही प्रयास करेंगे!... लेकिन जब तक एक मनोज है, तब तक मनोज को ही प्रयास करना पड़ेगा।

लेकिन जब मनोज प्रयास करता है, तो मनोज में स्थित भगवान् ही प्रयास करते हैं!

शायद हाँ, लेकिन मनोज उसके बारे में कुछ नहीं जानता! *(हँसी)* मैं बस, यही कहती हूँ कि अगर भगवान् न होते तो मनोज प्रयास न कर पाता। लेकिन मनोज अभी तक यह जानने की अवस्था में नहीं है, इसलिए वह यह जानता है कि वह प्रयास कर रहा है।

मनोज : लेकिन अब आपने कह दिया! आज मैं जानता हूँ, इसलिए...

(तुरन्त) ओ, हो, हो, हो, हो!... *(हँसी)* मानसिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है, तुम्हें व्यावहारिक अनुभव होना चाहिये।...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २५७-५८

भगवान् के प्रति खुलना

खुले रहने का अर्थ ही है कि श्रीमाँ की ओर इस तरह मुड़े रहना कि उनकी शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर सके, कोई भी चीज़ उनके कार्य को अस्वीकार न करे अथवा बाधा न पहुँचाये। अगर मन अपने निजी विचारों में ही बन्द रहे और उसे अपने अन्दर ज्योति और सत्य न लाने दे, अगर प्राण अपनी वासनाओं से चिपका रहे और जिस सच्चे प्रारम्भ और जिन सत्य प्रवृत्तियों को श्रीमाँ की शक्ति ले आती है उन्हें न आने दे, अगर शरीर अपनी कामनाओं, आदतों और तामसिकता से जकड़ा हुआ हो, और ज्योति और शक्ति को न अपने अन्दर प्रवेश करने दे, और न ही कार्य करने दे तो इसका अर्थ है कि व्यक्ति खुला हुआ नहीं है।

एक ही साथ, अपनी सभी गतियों में खुलना सम्भव नहीं है, लेकिन हर एक गति में एक केन्द्रीय उद्घाटन होना ही चाहिये और साथ ही प्रत्येक भाग में (केवल मन में नहीं) एक प्रबल अभीप्सा होनी चाहिये कि वह केवल श्रीमाँ की क्रियाओं को स्वीकार करे, बाक़ी सब क्रमशः कर दिया जायेगा। CWSA खण्ड ३२, पृ. १५१

हमेशा भागवत शक्ति के सम्पर्क में रहो। तुम्हारे लिए सबसे अच्छा है कि तुम बस उद्घाटित रहो और शक्ति को अपना कार्य करने दो; जहाँ कहीं आवश्यकता होगी वह निम्नतर ऊर्जाओं को अपने हाथ में लेकर उन्हें

शुद्ध कर देगी; कभी-कभी वह उन सभी निम्न गतियों से तुम्हें ख़ाली कर, स्वयं को उसमें उँडेल देगी। लेकिन अगर तुम अपने मन को अगुआ बना लो और उसके साथ विचार-विमर्श करके यह निश्चय कर लो कि क्या करना है, तब तुम 'भागवत शक्ति' के साथ अपना सम्पर्क खो बैठोगे और निम्न ऊर्जाएँ अपना कार्य शुरू कर देंगी और फिर सब कुछ अस्त-व्यस्तता तथा ग़लत गति की ओर मोड़ ले लेगा।
CWSA खण्ड २९, पृ. १८९

श्रीमाँ की ओर खुले रहने का अर्थ है, हमेशा शान्त-स्थिर और प्रसन्न बने रहना तथा दृढ़ विश्वास बनाये रखना—न कि चञ्चल होना, दुःख करना या हताश होना; अपने अन्दर उनकी शक्ति को कार्य करने देना जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन कर सके, तुम्हें ज्ञान, शान्ति और आनन्द दे सके। अगर तुम स्वयं को खुला न रख सको तो फिर उसके लिए निरन्तर, पर बहुत ही शान्ति से यह अभीप्सा करो कि तुम उनकी ओर खुल सको।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १५१

योगी, संन्यासी, तपस्वी बनना यहाँ का उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है रूपान्तर, और तुमसे अनन्तगुना बड़ी शक्ति के द्वारा ही यह रूपान्तर सम्पन्न किया जा सकता है; यह केवल तभी किया जा सकता है जब तुम दिव्य माँ के हाथों में सचमुच एक बालक बन कर रहो।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १४३ **श्रीअरविन्द**

श्रीअरविन्द द्वारा दिया गया प्रार्थनामय मन्त्र

ॐ श्रीअरविन्द-मीरा

मेरे मन, मेरे हृदय, मेरे प्राण को अपने प्रकाश, अपने प्रेम, अपनी शक्ति की ओर खोल दो। सभी वस्तुओं में मैं भगवान् को ही देखूँ।

(यह एक साधक को श्रीअरविन्द द्वारा दिया गया था, १६.०७.१९३८)

उद्‌घाटन कैसे आता है

सबसे पहले तो तुम्हें उसकी आवश्यकता अनुभव करनी होगी।

यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। तुम्हारे अन्दर एक प्रकार की आन्तरिक नम्रता होनी चाहिये जो इस बात का भान कराती है कि भागवत 'कृपा' के बिना तुम कितने असहाय हो, कि सचमुच, उसके बिना तुम अपूर्ण और शक्तिहीन रहते हो। आरम्भ में, यही सबसे पहली चीज़ है।

यह एक ऐसा अनुभव है जिसे भली-भाँति किया जा सकता है। जब ऐसे लोग, जो कुछ भी नहीं जानते, अपने-आपको बहुत कठिन परिस्थितियों में पाते हैं, या किसी ऐसी समस्या में उलझ जाते हैं जिसे हल करना ही होगा, या जैसा कि मैंने अभी कहा, किसी ऐसे आवेग में आ जाते हैं जिसे जीतना ज़रूरी है, या अगर किसी वस्तु ने उन्हें व्याकुल कर दिया है... और उस समय वे अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करते हैं, उनकी समझ में नहीं आता कि वे क्या करें—उनका मन, उनका संकल्प, उनकी भावनाएँ, कोई भी सहायता नहीं करते—वे नहीं जानते कि क्या करें, तब यह होता है; उनके अन्दर से एक पुकार-सी उठती है, एक ऐसे के प्रति पुकार जो वह सब कर सकता है जिसे वे नहीं कर सकते। व्यक्ति उस चीज़ के प्रति अभीप्सा करता है जो वह काम करने में समर्थ है जिसे वह स्वयं नहीं कर सकता।

यह पहली शर्त है। और फिर, अगर तुम्हें इस बात का भान हो जाये कि केवल भागवत 'कृपा' ही यह कर सकती है, कि तुम अपने-आपको जिस परिस्थिति में पाते हो उसमें से केवल 'कृपा' ही तुम्हें उबार सकती है, वही तुम्हें उसमें से निकलने के लिए उपाय बता सकती है और बल दे सकती है, तो स्वभावतः, तुम्हारे अन्दर एक तीव्र अभीप्सा जागेगी—एक ऐसी चेतना जो अपने-आपको उद्‌घाटन में बदल लेगी। अगर तुम आवाहन करो, अभीप्सा करो और उत्तर पाने की आशा करो, तो तुम बिलकुल स्वाभाविक रूप से अपने-आपको भागवत 'कृपा' की ओर खोलोगे।

और बाद में—तुम्हें इसकी ओर बहुत ध्यान देना चाहिये *(माताजी ओठों पर अँगुली रखती हैं)*—भागवत 'कृपा' तुम्हें उत्तर देगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें कष्ट में से उबार लेगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें समस्या का समाधान बतलायेगी या तुम्हें अपनी कठिनाई में से निकल आने में सहायता देगी।

लेकिन जब तुम कष्ट से छुटकारा पा जाओ और कठिनाई में से निकल आओ, तो यह न भूलो कि भागवत 'कृपा' ने ही तुम्हें उबारा है, यह न सोचो कि यह तुमने स्वयं किया है। क्योंकि वास्तव में, यह महत्त्वपूर्ण बात है। कठिनाई ख़तम होते ही अधिकतर लोग कहते हैं : "आख़िर, मैंने अपने-आपको बड़ी अच्छी तरह कठिनाई में से निकाल लिया।"

तो यह बात है। इस तरह तुम दरवाज़ा बन्द कर देते हो, उस पर ताला जड़ कर चटकनी चढ़ा देते हो, और फिर तुम और कुछ नहीं पा सकते। इस आन्तरिक मूढ़ता को दूर करने, और तुम्हें यह अनुभव कराने के लिए कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम्हें फिर से किसी तीव्र व्यथा की, किसी भयानक कठिनाई की ज़रूरत होती है। क्योंकि तभी तुम ज़रा-सा खुलते और लचीले बनते हो जब तुम्हें यह पता लग जाये कि तुम बलहीन हो। लेकिन जब तक तुम यह समझते हो कि जो कुछ तुम करते हो वह तुम्हारे अपने कौशल और अपनी क्षमता पर निर्भर है, तो सचमुच, तुम केवल एक दरवाज़ा नहीं, एक के बाद एक बहुत-से दरवाज़े बन्द कर देते हो, समझे, और उनमें चटकनी लगा देते हो। तुम अपने-आपको एक क़िले में बन्द कर लेते हो, और वहाँ कोई चीज़ प्रवेश नहीं कर सकती। यह सबसे बड़ी त्रुटि है : आदमी बहुत जल्दी भूल जाता है। बिलकुल स्वाभाविक रूप में, वह अपनी निजी क्षमता से सन्तुष्ट रहता है।

लेकिन, माँ, जब हम यह सोचने की कोशिश करते हैं कि हम बलहीन हैं, तब भी कोई चीज़ यह मानती है कि हम शक्तिशाली हैं। तो?

हाँ, ठीक है, हाँ, ठीक है! ओह, सच्चा और निष्कपट होना बहुत कठिन है...। इसीलिए प्रहार बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी भयंकर हो जाते हैं, क्योंकि यही एकमात्र चीज़ है जो तुम्हारी मूढ़ता को तोड़ती है। यही विपदाओं का औचित्य है। जब तुम तीव्र पीड़ाजनक स्थिति में होते हो तभी, जब तुम ऐसी चीज़ के सामने हो जिसका तुम पर गहरा असर पड़ता है, तभी तुम्हारी मूढ़ता ज़रा-सी पिघलती है। लेकिन जैसा कि तुमने कहा, जब कोई चीज़ पिघलती है तो उस समय भी कोई छोटी-सी चीज़ तुम्हारे अन्दर जैसी-की-तैसी बनी रह जाती है। इसलिए व्यथा इतने लम्बे समय

तक चलती है...

गहराइयों तक यह जानने के लिए कि हम **कुछ भी नहीं** हैं, कि हम **कुछ भी नहीं** कर सकते, कि हमारा **अस्तित्व ही नहीं** है, कि हम हैं ही नहीं, कि भागवत 'चेतना' और 'कृपा' के बिना कोई सत्ता ही नहीं है, जीवन में कितने प्रहारों की ज़रूरत होती है। जिस क्षण तुम यह जान लेते हो, यह ख़तम हो जाती है; सारी कठिनाइयाँ चली जाती हैं। तभी, जब तुम इसे पूर्ण रूप से जान लो और कोई भी चीज़ इसका प्रतिरोध न करे... लेकिन उस मुहूर्त तक...। और इसमें बहुत समय लगता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३६४-६७

ग्रहणशीलता को बढ़ना चाहिये

खुलापन है—शक्ति और प्रभाव को ग्रहण करने और प्रगति के लिए उसका उपयोग करने के लिए संकल्प; परम चेतना के साथ सम्पर्क बनाये रखने की सतत अभीप्सा है; यह श्रद्धा है कि शक्ति और चेतना हमेशा तुम्हारे साथ, तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे अन्दर हैं और बस तुम्हें इतना ही करना है कि उन्हें ग्रहण करने के रास्ते में किसी भी चीज़ को बाधक न बनने दो।

*

"प्रेम और प्रकाश की ओर अधिक खुलना"—मैं तुम्हारे पिछले पत्र का ठीक यही उत्तर भेजती हूँ। चेतना में अधिक ऊँचे उठो, अधिक विशालता के साथ प्रेम करो, प्रकाश के प्रति खुलो—और सभी भटकनें विलीन हो जायेंगी। योग करने के लिए तुम्हें संसार के जितना विशाल और व्यापक होना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १५८, १५९

मेरी प्यारी माँ, मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ। मैं आपकी ओर खुलना चाहता हूँ, लेकिन कोई चीज़ मुझे खुलने से रोकती है।

मेरे प्यारे बालक, तुम्हें खुलना इसलिए कठिन लगता है क्योंकि तुमने अभी तक यह निश्चय नहीं किया है कि अपनी इच्छा को नहीं, मेरी इच्छा को जीवन पर शासन करने दोगे। जैसे ही तुम इसकी आवश्यकता समझ

जाओगे, हर चीज़ ज़्यादा आसान हो जायेगी और अन्ततः तुम उस शान्ति को पाने-योग्य हो जाओगे जिसकी तुम्हें इतनी अधिक ज़रूरत है।

इस प्रयास और अभीप्सा में मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १६८

आपके हाथ हमेशा देने के लिए खुले रहते हैं, लेकिन मैं एक छोटा-सा अंश ही पा सकता हूँ, क्योंकि मैं पर्याप्त ग्रहणशील नहीं हूँ।

यह जगत् की अवस्था का ठीक-ठीक चित्रण है जो इसलिए दुःख पाता है क्योंकि वह ग्रहणशील नहीं है, जब कि 'दिव्य प्रेम' की ओर खुलने से वह परमानन्द में निवास कर सकता है।

लेकिन इसका एक इलाज है :

सच्ची और सतत अभीप्सा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४११-१२

मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है; तो अगर तुम उसे अनुभव न करो तो इसका अर्थ है कि तुम उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो। यह तुम्हारी ग्रहणशीलता की कमी है और ग्रहणशीलता को बढ़ाना चाहिये; इसके लिए तुम्हें अपने-आपको खोलना चाहिये और **तुम अपने-आपको तभी खोलते हो जब अपने-आपको देते हो**। निश्चय ही तुम 'भागवत प्रेम' और शक्तियों को न्यूनाधिक सचेतन रूप से अपनी ओर खींचने का प्रयास कर रहे हो। यह तरीक़ा बुरा है। बिना लेखा-जोखा किये, बदले में किसी चीज़ की आशा किये बिना अपने-आपको दे दो, और तब तुम ग्रहण करने में समर्थ होओगे। *'श्रीमातृवाणी'*, खण्ड १४, पृ. १६२

तुम जो कुछ करो, भरसक पूर्णता के साथ करो। मनुष्य के अन्दर बसने वाले भगवान् की यह सबसे अच्छी सेवा है।

काम में तुम्हारा आदर्श पूर्णता होना चाहिये, इससे ज़रा भी कम नहीं। तब तुम निश्चय ही भगवान् के सच्चे यन्त्र बन जाओगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १३६, १३८

दैनन्दिनी

मार्च

१. उद्घाटन अपने-आप तब हो जाता है जब तुम निष्कपट बनने की इच्छा और अभीप्सा से लैस रहते हो।

२. उद्घाटन के लिए उत्तम तरीक़ा है, समर्पण; लेकिन जब तक वह न आ जाये, अभीप्सा और नीरवता एक हद तक उसे करने में समर्थ हो सकते हैं।

३. सतत स्मरण के द्वारा ही सत्ता पूर्ण उद्घाटन के लिए तैयार होती है।

४. शान्त, अचञ्चल, मज़बूत बने रहो मेरे बच्चे। अचञ्चल बल, 'भागवत कृपा' और माँ के आशार्वाद के साथ कुछ भी असम्भव नहीं रहता।

५. उस चेतना के प्रति खुलो जो तुम्हारे ऊपर और तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है और हमेशा यथासम्भव अचञ्चल और शान्त रहो।

६. मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरे अन्दर से कट्टरता और स्वाग्रह को धो दिया जाये और मैं माँ के प्रति विनीत और आज्ञापरायण बन जाऊँ।

७. वर दे कि मैं माँ के कार्य के लिए समर्पित उपयुक्त यन्त्र बन सकूँ। मैं जो कुछ भी करूँ उसमें उनकी कृपा ही मुझे राह दिखाये।

८. सच्चे बनो, हमेशा सच्चे बनो, अधिकाधिक सच्चे बनो।

९. सच्चाई हर एक से यह माँग करती है कि वह अपने विचारों, अपने भावों, अपनी अनुभूतियों और अपने कामों में अपनी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के सिवा और कुछ न प्रकट करे।

१०. अगर मेरे अन्दर पूरी सच्चाई है तो यह ज़रूरी नहीं है कि मैं अच्छा दिखायी दूँ।
दिखायी देने से होना कहीं अधिक अच्छा है।

११. एक नियम मैं तुम्हारे लिए निश्चित कर सकता हूँ : ऐसा कोई काम मत करो, ऐसी कोई बात मत कहो या सोचो जिसे तुम माताजी से छिपाना चाहो। *श्रीअरविन्द*

१२. वर दे कि एक नयी ज्योति धरती पर फैल जाये और मानव जीवन

की परिस्थितियों को बदल दे।

१३. किसी चीज़ के लिए इच्छा न करो, किसी चीज़ के लिए कभी दावा न करो। हर क्षण अपनी क्षमता के अनुसार ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर रहो।

१४. भौतिक रूप में, स्थूल रूप में, इस पृथ्वी पर, कृतज्ञता के अन्दर ही शुद्धतम आनन्द का स्रोत पाया जाता है।

१५. हर रोज़ जागते समय हम पूर्ण उत्सर्ग-भरे दिन के लिए प्रार्थना करें।

१६. हम अपने हृदय के साथ प्रार्थना करें कि भगवान् का कार्य सम्पन्न हो। सभी सच्ची प्रार्थनाओं का उत्तर मिलता है, लेकिन उनके भौतिक रूप में चरितार्थ होने में समय लग सकता है।

१७. हमें सतत अभीप्सा की स्थिति में रहना चाहिये, लेकिन जब हम अभीप्सा न कर सकें तो हम एक बालक की सरलता के साथ प्रार्थना करें।

१८. हम प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमें हमेशा अधिकाधिक सिखायें, अधिकाधिक बोध दें, हमारे अज्ञान को छिन्न-भिन्न कर दें, हमारे मनों को प्रकाश दें।

१९. मेरे साथ सम्बन्ध में बालक की तरह सीधे, सरल और सहज बनने की कोशिश करो—यह तुम्हें बहुत-सी मुश्किलों से बचायेगा।

२०. काम करो—मेरी प्रेरणा और मेरा पथ-प्रदर्शन हमेशा तुम्हारे साथ होंगे।

२१. तुम्हें आन्तरिक शान्ति को पाना और हमेशा बनाये रखना चाहिये। यह शान्ति जो शक्ति लाती है उसमें सब छोटी-मोटी विपत्तियाँ ग़ायब हो जायेंगी।

२२. तुम्हारी चेतना की गहराई में तुम्हारे अन्दर रहने वाले भगवान् का मन्दिर, तुम्हारा चैत्य पुरुष है।

२३. मन जितना स्थिर और नीरव हो, उतनी ही अधिक अभीप्सा हृदय की गहराई से, अपने उत्साह की पूर्णता में उठती है।

२४. अगर हम समर्पित हों तो भागवत स्पर्श कठिनाइयों को सुअवसर में, असफलता को सफलता में और दुर्बलता को शक्ति में बदल सकता है।

२५. यह जानते हुए कि यह भूल है, किसी भूल को दोबारा करना ऐसा ही है जैसे कि प्रकाश के होते हुए उसे स्वेच्छा से बुझा देना। यह तो बिलकुल स्वेच्छा से अन्धकार को वापस लाने जैसी बात हुई।

२६. जीवन में तुम कुछ भी करना चाहो, एक चीज़ नितान्त अपरिहार्य है और **सबके मूल** में है, वह है—ध्यान एकाग्र करने की क्षमता।

२७. बहरहाल, जो भी हो, तुम जो भी करो, **भय** को अपने ऊपर आक्रमण न करने दो। उसके ज़रा-से स्पर्श पर भी सक्रिय हो जाओ और सहायता के लिए पुकारो।

२८. भला बोलना अच्छा है। भला करना ज़्यादा अच्छा है। अपनी क्रियाओं को कभी अपने शब्दों से नीचे न उतरने दो।

२९. वे सब जो सचमुच बलवान् और शक्तिशाली होते हैं, सदा बहुत स्थिर रहते हैं। केवल दुर्बल ही बेचैन होते हैं। सच्ची स्थिरता सदा सामर्थ्य का लक्षण है।

३०. जीवन है गति, जीवन है प्रयास, जीवन है आगे की ओर बढ़ना, एक पहाड़ी चढ़ाई चढ़ना, नये-नये ज्योति-शिखरों को पार करना और भविष्य की चरितार्थता की ओर अग्रसर होना।

३१. वह साहस और वह वीरता, जिसकी भगवान् हमसे अपेक्षा रखते हैं, उसका उपयोग हम अपनी कठिनाइयों, अपूर्णताओं और मलिनताओं के विरुद्ध लड़ने में क्यों न दिखलायें?

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

ज्योतिष के बारे में

क्या आप ज्योतिष के बारे में कुछ बतलायेंगे?

श्रीअरविन्द के मतानुसार ज्योतिष वस्तुओं के अन्योन्याश्रय ज्ञान पर आश्रित होता है और यह गुह्य विद्या है। या यूँ कहा जाये कि अन्तर्भास की विद्या है। आज के ज्योतिष में हम क्या देखते हैं? पहली बात तो यह कि उसकी सभी बातें ठीक नहीं निकलतीं क्योंकि जन्मपत्री बनाते समय ज्योतिषी अपने अन्तर्भास और गुह्य विद्या का उपयोग नहीं करते। दूसरे यह कि श्रीअरविन्द के अनुसार ग्रह चिह्न या इंगित होते हैं और बदल भी सकते हैं। तीसरे

स्वयं ज्योतिष भी बतला सकता है कि चीज़ें कैसे बदल जाती हैं।

तो आज के ज्योतिष में बहुत-सी बाधाएँ आती हैं जिनमें से पहली तो आती है यन्त्र, यानी स्वयं ज्योतिषी से—अगर वह योगी न हो। माताजी कभी-कभी साधकों की हथेली देखा करती थीं। एक बार उन्होंने मेरी हथेली देखी तो मैंने उनसे पूछा, "आप इसे कैसे देखती हैं?" उन्होंने जवाब दिया, "जब मैं किसी का हाथ पकड़ती हूँ तो उसके भूत, भविष्य और वर्तमान के बारे में जो कुछ अच्छा होता है वह मुझे मालूम हो जाता है।" ज्योतिष केवल उस बात को प्रमाणित करता है जिसे तुम अन्तर्भास द्वारा देखते हो। वह सच्चा ज्योतिष है। जब कोई ज्योतिषी तुमको देखता है तो वह उन सब स्पन्दनों को अनुभव कर सकता है जो तुम्हारे भूत, भविष्य और वर्तमान को लाते हैं। माताजी जब लोगों से मिलती थीं तो वे उनके पीछे के निर्गत अंशों को देख सकती थीं और कह देती थीं, "मैंने इसके पीछे इसके पिछले जन्म के अमुक व्यक्ति को देखा।" इससे उस व्यक्ति के भविष्य का भी उन्हें कुछ पता लग जाता था। ज्योतिष एक अपूर्ण विज्ञान है और योग के क्षेत्र में आकर हमें उसे भूल जाना चाहिये। यदि भगवान् ज्योतिष को तुम्हारा क्षेत्र बनाना चाहते हों तो और बात है। तब वह अतिमानसिक ज्योति का ज्योतिष होगा। भूतकाल में ज्योतिष ठीक चीज़ थी परन्तु अब उसके स्थान पर कोई नयी चीज़ आने वाली है। परन्तु हमें पता नहीं कि वह 'नयी चीज़' क्या है। उसे तो आना ही है। अगर हम भगवान् के यन्त्र बनने वाले हैं तो भूतकाल और नूतन भविष्य का सम्बन्ध कैसे जोड़ा जाये यह हमें बतलाया जायेगा। वह सातत्य नहीं बल्कि छलाँग होगी।

क्या चेतना के हर स्तर की अपनी नियति होती है? दिव्य चेतना आध्यात्मिक होती है और उसका कहीं अन्त नहीं होता। क्या इसका यह अर्थ है कि नियति स्तर-स्तर पर बदलती रहती है?

हाँ, निम्न स्तर पर स्वाधीनता होती है और उच्चतर स्तर पर भी, परन्तु किसी और दृष्टिकोण से। तुम भगवान् पर केन्द्रित हो सकते हो या तुम्हारी चेतना किसी निचले स्तर पर रह सकती है—तुम्हारे मन, प्राणिक आवेशों या तुम्हारी भौतिक क्रियाओं में निवास कर सकती है। जहाँ हमारी चेतना

रहती है वहीं की नियति हम पर लागू होती है। अतः हमें अपनी चेतना को वहीं रखना चाहिये जहाँ हम उसे रखना चाहें। अधिकतम लोग इसके लिए कोई सचेतन प्रयास नहीं करते। उनके जीवन में घटनाएँ यूँ ही घटा करती हैं। योग में हम हमेशा उच्चतम स्तर पर रहने का सचेतन प्रयास करते हैं और अपने निम्नतर व्यक्तित्व को उच्चतम बनाना चाहते हैं। मान लो कि तुम्हारा चैत्य पहले से ही भगवान् के सम्पर्क में है, अब तुम्हारे मन, प्राण, शरीर को भी उद्घाटित होकर यह सम्पर्क रखना चाहिये। साथ ही अपने चारों ओर दिव्य प्रकाश का ध्यान करते हुए तुम्हें यह प्रयास करना चाहिये कि अवाञ्छनीय शक्तियाँ न घुसने पायें और यह प्रयास हमेशा चलता रहना चाहिये। एक बार यह स्थापित हो जाये तो प्रयास करने की ज़रूरत नहीं रहती, वह एक आदत बन जाती है।

(क्रमशः)

—नवजातजी

शाश्वत ज्योति

(३)

हम आश्रम की वरिष्ठ साधिका चित्रा सेन—हमारी प्रिय चित्रा दी—की डायरी में अंकित श्रीमाँ की बातचीत बीच-बीच में दे रहे हैं। स्वयं चित्रा दी के शब्दों में सुनिये—

'इस वार्तालाप में माताजी की अधिकांश बातें मेरी डायरी से हैं। हम उनके साथ जो भी बातचीत करते थे, उन्हें यथासम्भव ईमानदारी से लिख लेते थे। यह वार्तालाप माँ के द्वारा न तो देखा गया है और न ही सुधारा।'

अब, उनके कार्य का एक और पहलू देखिये—बचपन से ही, यानी, १९४० में, १२ साल की उम्र में जब मैं पहली बार यहाँ आयी तब मैंने तुरन्त ध्यान दिया कि यहाँ सभी काम कर रहे हैं। सब कुछ पूर्णता के साथ किया जा रहा है। और सभी बड़े हमेशा कहा करते थे, "माँ ने मुझे यह काम दिया है।" कोई ऊँचा या नीचा काम नहीं था। उस उम्र में, व्यक्ति की कुछ समझ में नहीं आता, पर व्यक्ति उसे अपने अन्दर सोख लेता है।

अब मैं देख सकती हूँ कि उस समय के बुज़ुर्ग साधकों के काम करने के मनोभाव को मैंने अपने अन्दर कितना आत्मसात् किया है। काम, हम जानते हैं, श्रीमाँ ने कहा है कि यह परमात्मा के लिए शरीर की सर्वोत्तम प्रार्थना है। और श्रीअरविन्द के योग में, हम सभी को पता है कि माँ ने काम को और बहुधा शारीरिक कार्य को कितना महत्त्व दिया है। क्योंकि केवल काम ही एक ऐसी जगह है जहाँ हम दूसरों के साथ सम्पर्क में आते हैं, जहाँ हमारी सत्ता के विभिन्न भाग सतह पर आ सकते हैं। जब कोई भाग सतह पर आता है तभी व्यक्ति उसके बारे में अवगत होता है। अन्यथा वह अपनी सत्ता के विभिन्न भागों के बारे में अवगत नहीं होता। और यही समय होता है इन भागों पर काम करने का। श्रीमाँ ने शारीरिक कार्य को काफ़ी महत्त्व दिया है। मैं इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देती हूँ। शिशिर-दा जो शान्ति-निकेतन में इतिहास के अध्यापक थे और बाद में जो हमारे शिक्षाकेन्द्र के सह-सञ्चालक बने, उनको भोजनालय में काम दिया गया! ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ अपने जीवन में अच्छी तरह प्रतिष्ठित अत्यधिक बौद्धिक लोगों को भोजनालय या अन्य विभागों में शारीरिक काम दिया गया था।

श्रीमाँ ने पुष्पों का आध्यात्मिक अर्थ दिया है। कभी-कभी जब वे हमें पुष्प देतीं तो उसका अर्थ हमें समझातीं। एक बार उन्होंने मुझे एक पुष्प का अर्थ समझाया जिसका नाम उन्होंने 'ब्योरेवार समर्पण' दिया था। मैं आशा करती हूँ कि आप इस फूल को जानते होंगे। यह है छोटा-सा 'चाइनीज़-रोज़' —बहुत ही छोटा गुलाबी रंग का फूल। श्रीमाँ ने कहा, "ब्योरेवार समर्पण"। इसका मतलब है, तुम्हारे सभी विचारों, मनोभावों, कार्यों तथा गतिविधियों का समर्पण। तुम भगवान् से कहो, 'मैं इसे तुम्हें भेंट करती हूँ, ताकि मैं तुम्हारे समीप आ सकूँ।' जैसे तुम एक पुष्प अर्पण करते हो वैसे ही अपनी भावनाओं, विचारों या कार्यों का भी समर्पण कर दो। जब कभी कुछ ऐसी चीज़ें हों, तुम कल्पना करो कि मैं वहाँ हूँ, तुम्हारे सामने, और तुम कहो, 'मैं इसे आपको चढ़ाती हूँ।' "मुझे इसका पता है और मैं इसे ग्रहण कर लेती हूँ।" वे सचमुच वहाँ होती हैं, हमारा अर्पण ग्रहण करने के लिए हमारे सामने उपस्थित रहती हैं। और यह अब भी सच है। अतः, केवल अभी नहीं, बल्कि हम सभी के भविष्य के लिए भी—हमारे आने वाले

जन्मों के लिए भी—श्रीमाँ उपस्थित हैं। उन्होंने हमारे अन्दर इस भावना का बीज रोप दिया है। मुझे मालूम है कि हर बार जब हम धरती पर वापस आयेंगे, वे हमें हमारे लक्ष्य की ओर क़दम बढ़ाने में मदद करने के लिए हमेशा हमारे साथ होंगी।

जब मैं १९ साल की थी, उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हारे प्राण को काम की ज़रूरत है।" प्राण, जैसा कि हमें कहा गया था, हमारी सत्ता का वह भाग है जो हमें प्रेरक शक्ति देता है और जो हमारी कामनाओं-इच्छाओं इत्यादि का आसन है। तो उन्होंने मुझे काम करने के लिए भेजा। आश्रम-प्रेस हाल ही में शुरू हुआ था। श्रीमाँ ने मुझसे पूछा, "तुम इन्द्रसेन को जानती हो?" "जी हाँ, माँ।" "तुम उनके पास जाओ, वे तुम्हें प्रेस में काम के लिए ले जायेंगे।"

हम पैदल ही प्रेस गये। प्रेस शुरू-शुरू ही हुआ था। चीज़ों को खोला जा रहा था और कई बन्द पुलिन्दे वहाँ पड़े हुए थे। डॉ.इन्द्रसेन ने किसी सहायक के लिए पूछा था, लेकिन उन्हें ऐसे व्यक्ति की ज़रूरत थी जो मज़दूरों के काम की निगरानी करने में उनकी मदद कर सके। मैं उस काम के लिए उपयुक्त नहीं थी। वे ठहरे ठेठ शिक्षक, उन्होंने मुझे प्रेस की 'हैण्ड-कम्पोज़िग', यानी, हाथ से अक्षरों को मशीन में बिठाने के काम के लिए भेज दिया। मैंने अभी काम शुरू ही किया था कि अपने एक मित्र को दरवाज़े से अन्दर झाँकते हुए देखा। मैंने कहा, "हैलो, क्या बात है?" और उसने अन्दर आते हुए कहा, "माँ ने मुझे यह देखने के लिए भेजा है कि तुम अपना काम कैसे कर रही हो"। यह है माँ का विशेष स्पर्श! कैसे वे मुझे काम के लिए भेजती हैं और एक ही घण्टे के अन्दर, यह देखने के लिए किसी को भेजती हैं कि क्या मैं उस काम में तालमेल बिठा पा रही हूँ या नहीं! यही है हमारी माँ का ममत्व! दूसरे विश्व-युद्ध के बाद, अगस्त १९४५ में, श्रीमाँ ने एक सन्देश दिया: "विजय द्वार पर खड़ी है। तेरी विजय, हे नाथ, जिसके लिए हम तुझे अनन्त धन्यवाद देते हैं... इत्यादि।" हमने प्रेस में उसको 'कम्पोज़' किया। एक कार्यकर्ता ने उसकी पाण्डुलिपि मेरे हाथ में पकड़ायी और विजयी भाव से मैं यह दिखाने के लिए माँ के पास गयी कि मैंने अपना पहला दिन प्रेस में कैसे बिताया।

(क्रमशः)

अनु. वीणा

एक का दुःख सबका दुःख...

बच्चो, जो मैं सुनाने जा रही हूँ वह कल्पना नहीं सच्ची कहानी है। पहले अपना परिचय दे दूँ। मेरा नाम हेलेन है—हेलेन रोज़विअर। पेशे से मैं चिकित्सक हूँ। डॉक्टरी की पढ़ाई पूरी करते न करते मेरे अन्दर यह बात घर कर गयी कि मैं अपना जीवन ग़रीबों, बेबसों के न्योछावर कर दूँगी और यही वजह थी कि मैंने अपनी सारी पूँजी लगा कर छोटा-सा अस्पताल खोला। जल्दी ही उसकी ख्याति सारे लन्दन शहर में फैल गयी; शायद दवाइयों की वजह से इतनी नहीं जितनी मुफ़्त दवाख़ाने की बदौलत...। दूर-दराज़ से मरीज़ आते और मुझसे दवाई ले, दुआओं की पोटली थमा चले जाते और वही मेरी सबसे मूल्यवान् 'फ़ीस' थी। भगवान् की दया से इधर-उधर से आये धन से मेरा गुज़ारा आराम से चल जाता, मुझे कभी किसी भी चीज़ का अभाव नहीं खलता, क्योंकि मेरे पास अपने मरीज़ों के आसीसों की धन-सम्पदा की हमेशा ऐसी झड़ी लगी रहती कि रुपये-पैसे के बारे में चिन्ता करने की फ़ुरसत ही कहाँ थी मुझे...? सच्ची बात तो यह है कि मुझे भगवान् पर पूरा भरोसा था। जब कभी किसी चीज़ की ज़रूरत आन पड़ती, कहीं न कहीं से उसका इन्तज़ाम हो ही जाता। ईश्वर क़दम-क़दम पर मुझे इसका सुबूत देते रहते, लेकिन उस रोज़ कैसे मैं इस बात को भुला बैठी? भुला बैठी तभी तो प्रभु ने मेरा हाथ पकड़, खींच कर कहा—फ़िकर क्यों करती हो? मैं हमेशा से हूँ न!

हाँ, तो लन्दन में पाँच साल बिताने के बाद अफ़्रीका के आदिवासियों के बीच रह कर काम करने का सौभाग्य मुझे मिलता दीखा। मेरी तो ख़ुशी का पारावार न था, लेकिन घरवालों को यह सुझाव कतई न भाया। उन्होंने हर तरह से मुझे रोकना चाहा लेकिन एक बार मन पक्का कर लेने के बाद मुझे डिगाना पहाड़ को हिलाने से कम नहीं होता। आख़िर, भरे दिल और बरसती आँखों के साथ मेरी विदाई हुई...।

मध्य अफ़्रीका। मेरा नया जीवन शुरू हुआ। लन्दन के जीवन से कोसों अलग। न यहाँ लन्दन जैसी चहल-पहल थी, न रौनक, न कहीं कोई तेज़ी थी, न आपा-धापी। यहाँ तो मानों सन्नाटा बोलता था। सीधे-सादे आदिवासी अफ़्रीकियों का बिना लाग-लपेट का वह सरल जीवन मुझे इतना रास आया

कि मैं एकदम से नये माहौल, पूरी तरह से नयी ज़िन्दगी में इतनी जल्दी घुल-मिल गयी कि बस उन्हीं की बन गयी। छोटा-सा गाँव था वह—डॉक्टरी के साथ-साथ मैं वहाँ के बच्चों-बूढ़ों-जवानों को पढ़ाने-लिखाने भी लगी। हम सब एक ही घनिष्ठ परिवार की तरह रहते थे। सभी मुझे 'मम्मी' के नाम से पुकारते थे, मेरा जीवन उनके बीच अधिकाधिक समृद्ध बनता गया।

उस दिन अचानक शाम को मेरे दरवाज़े पर ज़ोरों की दस्तक हुई। प्रसव-पीड़ा से दोहरी हुई जा रही मारिया की हालत गम्भीर थी।

मिनटों में सभी आ जुटे। मेरा दल काम में जुट गया—इंजेक्शन, दवाई, गरम पानी... लेकिन इन सबके बावजूद होनी न टली। मारिया समय से पहले जन्मे नन्हें से, कमज़ोर बच्चे को हमारे हाथों में सौंप चल बसी और साथ ही छोड़ गयी दो साल की अपनी नन्हीं, बिलखती बेटी 'मैरी' को।

सारा गाँव शोक-सागर में डूब गया। एकबारगी मेरे दिल पर भी सन्नाटा छा गया, लेकिन चिकित्सक के नाते मुझे अपनी ज़िम्मेदारी का तुरन्त एहसास हो गया। नन्हीं जान को कैसे बचायें—यही प्रश्न सबके दिल में मँडरा रहा था। हालाँकि अफ़्रीका बहुत गरम देश है लेकिन रातें यहाँ की बहुत ठण्डी हो जाती हैं, कभी-कभी तो सर्द लहरें चलने लगती हैं।

बच्चे को सबसे पहले गरमाई की ज़रूरत थी। रूई में लपेट कर उसे टोकरी में सुला दिया—उधर गरम पानी की रबर की बोतल लायी गयी। बदक़िस्मती से वह हमारी अन्तिम बोतल थी—पता चला कि कई बोतलें पिघल चुकी थीं! अन्तिम बोतल—मैं घबरा गयी। मैंने तुरन्त आग जलवा कर कमरे को गरम रखने की हिदायत दी और वहीं कुर्सी लगा कर बच्चे के पास बैठ गयी। मैं क्या, सारा गाँव ही आस-पास था—बच्चे, बूढ़े, जवान। २ साल की उस छोटी 'मैरी' को एक ही क्षण में न जाने कितनी माँएँ मिल गयीं, सबने अपनी ममता के आँचल में उसे समेट लिया। इधर ज़िन्दगी और मौत के बीच झूलते उस नन्हें बच्चे के लिए कितने ही होंठ प्रार्थना में बुदबुदा उठे। और इस सबके बीच बैठी मैं सोचने लगी—कितनी निश्छलता, कितनी सरलता, कितनी सच्चाई है इस जीवन में जहाँ सब अपने होते हैं, एक की ख़ुशी सबकी ख़ुशी बन जाती है, एक का दुःख सबका दुःख...।

मैं भी प्रार्थना में डूबती जा रही थी। और अपने हृदय में मुझे विश्वास

हो चला था कि सबकी सच्ची दुआएँ इस नन्हीं जान को ज़रूर बचा लेंगी।

रात उतर रही थी। ठण्डक बढ़ने लगी थी और अचानक मेरा मन उचाट होने लगा। कमरे से निकल कर बाहर आयी नहीं कि सामने गाँव के गिरजा की घण्टियाँ सुनायी दीं। मेरे क़दम अनायास उस ओर बढ़ चले। अन्दर पहुँचते ही दिखायी दी मुझे सात साल की 'रूथ' जिसका परिवार मेरा पड़ोसी है। वह घुटने टेक, आँखें मूँदे बैठी थी, उसकी बातें मेरे कानों में गयीं—"भगवान्, तुम्हें तो मालूम है कि छोटी-सी 'मैरी' की माँ को तुमने अपने पास बुला लिया। मैं पूछती हूँ, क्यों बुला लिया उन्हें? 'मम्मी' कह रही थीं बच्चा बहुत कमज़ोर और बीमार है, 'मम्मी' बहुत घबरा रही हैं। अब बच्चा हमारे पास छोड़ कर माँ को संग ले गये तो उसे बचाना तो होगा न। कृपया भगवान्, कृपया उसके लिए कल तक एक रबर वाली पानी की बोतल ज़रूर भेज देना, क्योंकि मैंने 'मम्मी' को कहते सुना कि बच्चे के लिए वह बहुत ज़रूरी है नहीं तो वह बच्चा भी कहीं अपनी माँ के पास न चला जाये। इसलिए, आपका चाहे जितना ज़रूरी काम हो, कल सवेरे तक बोतल भेज ही देना, कहीं देर कर दी तो शायद फिर कोई फ़ायदा न हो। भगवान् ज़रूर, ज़रूर भेज देना।" वह भगवान् से बातचीत करके उठी और फिर मानों उसे कुछ याद हो आया, फिर से घुटने टेक, हाथ जोड़ कर बोली, "और हाँ, जब आप बोतल भेजने का इन्तज़ाम कर ही रहे हैं तो उसके साथ एक गुड़िया भी भेज देना। सुना न आपने, वह छोटी बच्ची अपनी माँ के बिना कितना रो रही है! आप उसके लिए गुड़िया भेज देंगे तो वह समझ जायेगी कि आप भी उससे उसकी माँ के जितना ही प्यार करते हैं। धन्यवाद भगवान्, बहुत-बहुत धन्यवाद, गरम पानी की बोतल और गुड़िया दोनों के लिए।"

रूथ उठी, उसके चेहरे से प्रसन्नता और विश्वास टपक रहा था। वह गिरजा से बाहर निकल गयी और मैं गिरजा के अन्दर मूर्ति बनी खड़ी रह गयी। क्या प्रभु ने 'तथास्तु' कह दिया? हाँ, बाइबल कहती है कि ईश्वर सब कुछ कर सकते हैं; हाँ, कर तो सकते हैं लेकिन शायद उनकी भी तो अपनी सीमाएँ होती हैं, नहीं होतीं क्या? मेरा तार्किक मन ख़ुद पूछ बैठा।

मैं प्रभु के सामने चुपचाप घुटने टेक कर बाहर निकल आयी। मेरी वाणी मौन थी, मेरा दिमाग़ मुखर था—कहाँ से टपकेगी मध्य अफ़्रीका में

बच्चे के लिए बोतल, बच्ची के लिए गुड़िया। एक ही रास्ता है, अगर मेरे घर से कोई पार्सल आ जाये? दो साल तो मुझे यहाँ रहते हो गये, कभी कोई पार्सल यहाँ तक तो आया नहीं...! और अगर कोई आ भी जाये तो कौन उसमें गरम पानी की बोतल रखेगा भला? और गुड़िया? नहीं, नहीं असम्भव!

मैं नवजात शिशु के कमरे में फिर से जा बैठी। आधा घण्टा भी नहीं बीता कि रूथ मेरे पास दौड़ती-दौड़ती आयी—"मम्मी, मम्मी, तुम्हारे दरवाज़े पर एक गाड़ी खड़ी है, जल्दी आओ। कहते हैं तुम्हारे लिए एक पार्सल आया है।" रूथ यह सन्देसा सुना उलटे पाँव भाग गयी। एक पल के लिए मैं कुछ न समझ पायी। 'हे प्रभो! तुम सचमुच दयालु हो!' हाथ जोड़े मैं भी रूथ के पीछे भागी।

जब तक मैं घर पहुँची, गाड़ी तो चली गयी थी पर मेरे बरामदे में बीस किलो का पार्सल रखा हुआ था और साथ ही उसे घेरे खड़े थे छोटे-बड़े सभी बच्चे। रूथ उछल-उछल कर कह रही थी—"मम्मी, भगवान् जी ने छोटे बच्चे के लिए गरम पानी की बोतल भेज दी, मैंने प्रार्थना की थी न उनसे!" मेरी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गयी। दो साल हुए मेरे नाम कभी पार्सल न आया और आज... और वह पार्सल सबने मिल कर खोला—मैंने एक-एक कर चीज़ें निकालनी शुरू कीं—कपड़े-लत्ते, स्वेटर, जर्सी, बरसातियाँ, पट्टियाँ—मैं एक-एक चीज़ निकालती गयी और बच्चे सामान देख ख़ुशी से चहचहाते, फुदकते रहे। रूथ चुपचाप खड़ी रही। उसके बाद निकले मेवा और टॉफ़ियों के बक्से। मेरा दिल धड़कने लगा... क्या वह नहीं है?

और अचानक... विश्वास नहीं हुआ... बक्से की तली से जो चीज़ निकली वह थी गरम पानी की बोतल!! मैं... मैं... मैं न रह पायी और रूथ, वह तो भगवान् को धन्यवाद देने मानों आकाश तक उछलने लगी।

मैंने रूथ को छाती से लगा लिया।

"मम्मी, मम्मी, बोतल है तो गुड़िया भी ज़रूर होगी, भगवान् अपना काम कभी अधूरा नहीं छोड़ते...।" रूथ ख़ुशी से चिल्लायी।

तब तक कई सिर बक्से पर झुक गये, कई हाथ बक्से की तली में पहुँच गये और एक ने निकाली कपड़े की ख़ूबसूरत गुड़िया!!

मैं जहाँ की तहाँ खड़ी रह गयी। मेरी आँखों को विश्वास ही नहीं हो रहा था। पाँच महीने पहले का चला पार्सल आज ही यहाँ पहुँचा और, और... मेरे पास भगवान् को धन्यवाद देने के लिए शब्द नहीं थे, मैंने अपना सर्वस्व उन्हें धन्यवाद में अर्पित कर दिया।

"मम्मी, जल्दी चलो, हम उस छोटी बच्ची को यह गुड़िया दे दें, वह समझ जायेगी कि भगवान् भी उससे उसकी माँ के जितना ही प्यार करते हैं।"

मैं रूथ के साथ हो ली। अब मुझे किसी चीज़ का डर न था। नवजात शिशु और उस बच्ची 'मैरी' को ऊपरवाले ने अपने सीने से जो लगा लिया था।

'अग्निशिखा', जनवरी २००९ से —वन्दना

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पॉण्डिचेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पॉण्डिचेरी ६०५००१, भारत

सम्पादक : वन्दना

स्वामी : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी-६०५००१

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

मन भला यह कैसे जान सकता या निश्चय कर सकता है कि तुम्हारी साधना के लिए क्या करना सही है? इस मामले में वह जितना सक्रिय होगा उतना ज़्यादा घपला पैदा करेगा। साधना में मन को शान्त, भगवान् के प्रति अभीप्सा में स्थिर रहना चाहिये— मन की नीरवता में ही अन्दर तथा ऊपर से सच्ची अनुभूति और परिवर्तन आयेंगे।

श्रीअरविन्द

शुभ कामनाओं सहित

श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,
जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)
www.aurosocietyrajasthan.org

Statement About Ownership And Other Particulars Concerning Agnishikha
Form IV

(1) *Place of Publication*:	Sri Aurobindo Ashram Puducherry - 605002
(2) *Periodicity of its publication:*	Monthly
(3) *Printer's Name:* *Nationality :* *Address:*	Swadhin Chatterjee Indian Sri Aurobindo Ashram Press, Puducherry - 605002
(4) *Publisher's Name:* *Nationality:* *Address:*	Pradeep Narang, Indian Sri Aurobindo Society, 11, Saint Martin Street, Puducherry - 605001
(5) *Editor's Name:* *Nationality :* *Address :*	Vandana Indian Sri Aurobindo Ashram Puducherry - 605002
(6) *Names and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital:*	

I, Pradeep Narang, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

1st March 2024

Sd/- (Pradeep Narang)
Chairman

With best compliments from:

AURO MIRRA
INTERNATIONAL SCHOOL,

110, Gangadhar Chetty Road,
Ulsoor, Bangalore-560042
Email:accounts@auroschoolsulsoor.org
www.auroschoolsulsoor.org

AURO MIRRA CENTRE OF EDUCATION
An Integral School,
SSST Nagar, Patiala
E-mail: auromirrapta@gmail.com

SRI AUROBINDO
INTERNATIONAL SCHOOL
(A Senior Secondary School)
Sri Aurobindo Marg,
Rose Garden-Bus Stand, Patiala
E-mail: auroschoolpta@gmail.com

Date of Publication: 1st March 2024 अग्निशिखा एवम् पुरोधा, वर्ष १, अंक ८, PONHIN00007 (RNI)
Rs. 30 (Monthly) प्रकाशक स्थलः सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तं स्ट्रीट, पांडिचेरी ६०५००१

SRI AUROBINDO
A New Dawn
A HAND-PAINTED ANIMATION FILM BY SRI AUROBINDO SOCIETY

The mental being in me
became a free intelligence,
a universal Mind,
... a receiver of knowledge
from all the hundred realms of being.
~ *Sri Aurobindo*
on his Nirvana Experience

Watch the Film in English & Hindi
at **www.anewdawn.in**